THE BOOK WAS DRENCHED

Brown Book

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180310

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H294.4/A27G Accession No. G.H.199

Author अग्रवाल, श्री० जं०

Title गीता चौपाई। 1951

This book should be returned on or before the date last marked below

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

श्री गीता चौपाई

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीताजीके श्लोकोंका

चौपाइयोंमें

हिंदी अनुवाद

रचयिता

धन्नालाल जवाहरलाल अग्रवाल

नासिक

संस्कृतिज्ञानशाला द्वारा पुरस्कृत

— मूल्य —

ग्लेज — १॥ रु.

रफ — १। रु.

लेखक, प्रकाशक
धन्नालाल जवाहरलाल अग्रवाल
नासिक

Checked 1965

सर्वाधिकार लेखकके स्वाधीन

प्रथमावृत्ति ३०००

Checked 1965

मुद्रक
शाहूलाल सीताराम तिवारी
चक्रवर्ती प्रेस, नासिक

अर्पण-पत्रिका

पूज्य पिताजी कै० जवाहरलालजीके पवित्रचरणोंमें

पिताजी! ताजी है, स्मृति सतत मेरे हृदयमें
स्मृतीसे काकाजी! सलिल भर आता नयनमें।
अनूठा था स्नेह प्रबल तव धर्मप्रवणता
तुम्हीसे काकाजी! उदित मुझमें कार्यपरता॥

तुम्हें श्रीगीताजी प्रिय, पठन जीसे नित किया
"सुगीताचौपाई" रचकर गुरो पूजन! किया।
तुम्हारा "धन्ना" हूँ प्रणत न मुझे बुद्धिविभव
समर्पू छोटी सी यह कृति पदोंमें अभिनव॥

आपका विनीत पुत्र— 'धन्नालाल'

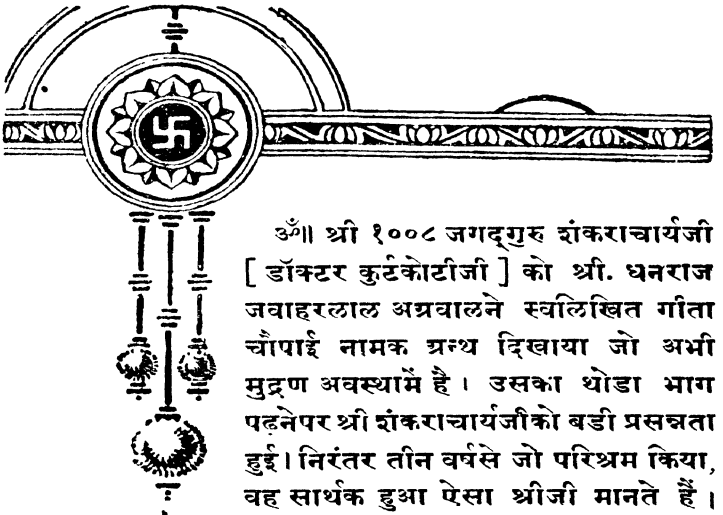

ॐ॥ श्री १००८ जगद्गुरु शंकराचार्यजी [डॉक्टर कुर्टकोटीजी] को श्री. धनराज जवाहरलाल अग्रवालने स्वलिखित गीता चौपाई नामक ग्रन्थ दिखाया जो अभी मुद्रण अवस्थामें है। उसका थोडा भाग पढ़नेपर श्री शंकराचार्यजीको बडी प्रसन्नता हुई। निरंतर तीन वर्षसे जो परिश्रम किया, वह सार्थक हुआ ऐसा श्रीजी मानते हैं। कई श्लोकोंपर चर्चा करके जो कहना था वह श्रीजीने ग्रन्थकर्ता को सूचित किया। गीता के विषयमें धनराजजीको कितनी श्रद्धा है, यह इस ग्रन्थको देखनेपर प्रतीत होगी। श्रीजीके विचारमें गीता प्रेमी हिन्दी पाठकवृन्द इस ग्रन्थका संग्रह करके अवश्य लाभ उठावेंगे। लेखक और पाठकोंको नारायण स्मरणपूर्वक आशिर्वाद।

S G Upasani,

General Mukhatyar,

SHRI SHANKARACHARYA,

(Dr. Kurtakoti)

आशीर्वाद

यह जो मुद्रित स्वरूपमें गीता चौपाई की पुस्तक मेरे सामने है, इसकी पहली हस्तलिखित प्रत लगभग दो वर्ष हुए चौपाइयोंमें अनुवादक श्री. धन्नालाल जवाहरलाल अग्रवाल ने मुझको दीथी। लेखक के प्रार्थनानुसार गीतार्थ की दृष्टिसे मैने समग्र चौपाइयां पढीं थी। कुछ श्लोकोपर उनसे चर्चा करके मैने सूचनायें दीं थी। लेखक ने मेरी सूचनाओंको स्वीकारकर अपनी चौपाइयोमें परिवर्तन भी किया है। गीतार्थ अच्छा उतरा है। प्रायः गीताके प्रत्येक शब्दका अर्थ चौपाइयोंमें लानेका प्रयत्न प्रशस्त है। चौपाइयां पढनेमें मधुर है। अर्थ की दृष्टिसे भी सुगम और सरल है। श्लोक की प्रतिचौपाइमें चरण से चरणका समानार्थ करने के प्रयत्नमें कहीं कहीं दूरान्वय होगया है। परन्तु इस प्रकारके प्रयत्नसे किंचित् संस्कृतज्ञोंको भी संस्कृत श्लोकका अर्थ समझनेमें बडी सहायता होगी ऐसी धारणा है. लेखक का तीन वर्षका प्रयत्न सफल है। भारत वर्षियोंका सौभाग्य है की जहां इस कालमेंभी इह परत्र लाभदायक, और नित्य पठनोपयोगी ग्रंथोंका निर्माण होता रहता है। इस प्रकारके परम धार्मिक ग्रंथ लेखक तथा पाठक पाठिकाओंको कल्याणप्रद मार्ग बताते रहें यही आशीर्वाद

फडके इत्युपनामा श्रीधरतनूजन्मा श्रीकृष्ण शर्मा

१८७३ आषाढ शु॥ १५

श्री १००८ वीतराग करपात्रीजी महाराज इनका आशीर्वाद

गीता चौपाई पुस्तक देखी। गीता के गूढ़ श्लोकों का सरल हिन्दी चौपाई में अनुवाद प्रशस्य है। लेखक तथा पुस्तक को नारायण स्मरणात्मक शुभाशीर्वाद है

मार्कण्डेय

श्री१००८ स्वामी श्री करपात्रीजी महाराजकी ओरसे

॥ श्री ॥

स्वामी वासुदेवाचार्य दार्शनिक सार्वभौम न्याय-वेदान्त व्याकरण-मिमांसाचार्य, अयोध्या

रायपुर सिटी

श्रीमत्सु शुभानुशासनम्। २५।७।५१

आपके गीता चौपाई को आपाततः कई स्थलोंको देखा है चौपाई में अनुवाद करते 'च' 'तु' 'अपि' आदिका भी ध्यान यथा संभव रखा गया है। मै समझता हूं इससे हिन्दीमें गीतानुवाद पढनेवालोंको अधिक लाभ होगा

वासुदेवाचार्य

दार्शनिक आश्रम, अयोध्या.

भूमिका

श्री धन्नालालजी अग्रवाल की कृति गीता चौपाई की भूमिका लिखते हुए मै अत्यन्त हर्षका अनुभव करता हूं। गीता पर आज तक अनेको टीका प्रटीकायें लिखी गयी है। परन्तु गीता ज्ञान निधिको जन साधारण और विद्वद्वर्गमें वितरित करते हुऐ भी येही इसकी इतिश्री है ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह निधि अगाध है, और इसमेसे अभी अमूल्य रत्नोको निकालनेका प्रयत्न बराबर होते रहनेकी आवश्यकता है। जितनाभी इस पर ऊहापोह किया जावे वह थोड़ाही होगा। जगत् और उसके मूल कारण के खोजकी समस्या संसारके विद्वत्पुंगवो के समक्ष सदा रही और भविष्यमे भी रहेगी। इस समस्या के सुलझाने के लिये जो प्रयत्न किये गये, वेही वास्तवमें विभिन्न दार्शनिक दृष्टियो के रूपमें प्रसिद्ध हो गये है। सभी दार्शनिक दृष्टियोंका गीता में सन्निवेश है। अतः उसमें जहां भाषाकी सरलता है वहां समझकी जटिलता है। भारत में कर्तव्य मीमांसा शास्त्रमें गीताका एक प्रमुख स्थान है। क्योंकि इसकी रचना ही ऐसे विषय को लेकर हुई जिसमें कर्तव्य अकर्तव्य का प्रश्न उपस्थित था। इस कर्तव्याकर्तव्य विचिकित्सा के समाधानार्थ गीतामें विशुद्ध कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है और वह ही गीताकी परिभाषामें सर्वोत्तम योग है तथा है वह—कर्मकरनेकी विचित्र कुशलता। अन्य सारे दार्शनिक दृष्टिकोण इसमेंही समन्वित करने के लिये समुद्दिष्ट है। गीताको विचारते अथवा उसपर कुछ लिखते समय यह धारणा दृष्टिपथमें अवश्य रखनी चाहिये।

मुझे प्रसन्नता है कि, प्रस्तुत पुस्तक गीता चौपायी के लेखकने कर्मयोग की धारणा को समक्ष रखते हुए और आचार्यों

की प्रसिद्ध संस्कृत टीकाओंका मूलसे समन्वय करनेका प्रयत्न करते हुए गीताकी चौपायियों की रचना की है। लेखक जहां हिन्दी की कवितामें कुशल है वहां संस्कृत के भी जानकार है। इससे गीताके भावों को समझ कर चौपायी के ग्रंथन में उन्हें अच्छी सहायता मिली है। गीताके भाव चौपाइयों मे स्पष्ट पाये जाते हैं। लेखक ने गीताके भावों, और श्लोकों के प्रत्येक पदको विचार कर उसीके अनुरूप नपी तुली पद्य रचना की है। चौपाई बनाते समय लेखकने किसी संस्कृत पदके भाव को छोडा नहीं और उसका यह प्रयत्न आद्यन्त एक समान है। उदाहरणार्थ गीताके दूसरे अध्याय के १२ वें और १४ वें श्लोक तथा उसकी चौपाई को लिजीए।

न त्वेवाऽहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय! शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनो ऽनित्यास् तांस्तितिक्षस्व भारत! ॥१४॥

इनका चौपाई में अनुवाद

था न कभी भी, मै अस नाहीं * थे न तुम न ये नृप अस नाहीं
नहिं हि कि आगे भी ना होऊं * इत उत्तर आपन सब कोऊ ॥१२॥
तनु संबन्ध संग कौन्तेया! * शीत ष्ण जिमि सुखदुख देया
आवहिं जावहिं नश्वर एते * पार्थ! धीर धरि सहहू तेते ॥१४॥

इन चौपाइयों को देखनेसे यह पता चलता है कि, संस्कृत के सभी पदोंका भाव इनमें सन्निविष्ट है। चौपाई-काव्य में यह प्रक्रिया सर्वत्र बर्ती गयी है। कहीं कहीं भाष्यकारोंकी विप्रतिपत्तियोंको

देखते हुये श्लोकों के अपने विशुद्ध भाव लेकर चौपाइयोंका निर्माण रचयिताने इसमें किया है। मुझे एक वर्ष पुर्व इसकी पांडु लिपि दिखलायी गयी थी। आज छपे फर्मे हमारे सामने हैं। लेखक का प्रयत्न सराहनीय है। चौपाइयोंमें ही इसकी रचना क्यों हुई? इसका भी कारण यही है कि ऐसा करनेसे यह रामचरित्र मानस रामायण की भांति सरस सरल और जन साधारण के लाभ की हो सकेगी। गीताका दार्शनिक ज्ञान जो गूढ है, चौपाई काव्यमें सरसता और सरलतासे पाठकों को हृदयंगम हो सकेगा। जनतामें ऐसे संस्कृतज्ञ बहुत थोड़े है जो मूल गीता को पढ़कर उसका लाभ ले सकें। जन साधारण गीतामृत का पान कर अपने इस और उस दोनों जीवन का उत्थान करे इस लिये चौपाई छंदोमें इसकी रचना की गयी ऐसा यह गीता चौपाई ग्रंथ देखने से जान पड़ता है। इस चौपाई काव्य के रचयिताने वास्तव में बहुत परिश्रमसे इस रचना को प्रस्तुत किया है। उसका प्रयत्न पाठकों को इस रचना में प्रविष्ट होने पर पदे पदे दृष्टिगोचर होगा। चौपाई-बद्ध यह ग्रंथ सर्वथा उत्तम स्वाध्याय पाठ तथा संग्रह करने के योग्य है, लेंखकका प्रयत्न जहां प्रशंसनीय है वहां पाठकों संस्थाओं और पुस्तकालयों को चाहिये की वे इसका संग्रहकर लाभ उठावें। जिससें लेखकोंका मान और साहित्यकी वृद्धि हो।

पंचवटी नासिक **वैद्यनाथ शास्त्री** एम्. ए.

४।५।५१ दर्शनाचार्य, भूतपूर्व प्रिन्सिपॉल ब्राह्म विद्यालय, लाहोर.

पुरस्कार

(लेखक :- आचार्य श्रीराम गोस्वामी, विद्याचावस्पति, संस्कृति ज्ञानशाला, नासिक)

गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य, मुखपद्मात् विनिःसृता ॥

"If I venture to offer a translation of the wonderful poem, after so many superior scholars, it is in greatful recognition of the help derived from their labours, and because English literature would certainly be incomplete without possessing a popular form of poetical and philosophical work so dear to India"

एड्विन अर्नाल्ड

(गीताके छंदोबद्ध भाषान्तर की प्रस्तावनामें)

भारतीय संस्कृतिके ज्ञानक्षेत्र में श्री भगवान् कृष्ण की भगवद् गीता अखंड दीपस्तंभ की भांति साधकों और जिज्ञासुओंको कर्तव्यपथ बतानेका कार्य आज कई शताब्दियोंसे करती आई है। तत्वज्ञान के क्षेत्र में इस अखंड नंदादीप का रक्षण श्रीमत् शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, और वल्लभाचार्य इन सूर्य सदृश प्रतिभावंतोंने जिस प्रकार अपने अपने जीवन कार्य में गीतापर महान् भाष्योंको लिखकर किया; उसी प्रकार इन आचार्योंके शिष्य प्रशिष्योंने अपनी अपनी बौद्धिक शक्तिके अनुसार संस्कृत टीका प्रटीकाओंसे इस ज्ञानदीपको आर्यावर्तमें

आजतक अप्रतिहत प्रज्वलित रखा है। मराठी भाषाके तुलसीदास और सूरदास भक्तराज कवीश्वर ज्ञानेश्वरजीने अपने स्निग्ध 'भावार्थ' से इस ज्ञानज्योतिको प्रदीप्त किया है। श्री लोकमान्य तिलकजीने आधुनिक बुद्धिवाद और विज्ञान शास्त्र के रंगविरंगे कलेवर चढ़ाकर अपने गीता रहस्यसे इस ज्ञानदीपको और भी जगमगाया है। योगिराज बाबू अरविन्द घोषजीने अपने अंग्रेजी गीताभाष्य द्वारा इस अपने राष्ट्रीय संपत्ति का दान सारे जगत् को दिया है। "इस भारतीय लोकप्रिय ज्ञानपरिपूर्ण काव्यका भाषान्तर अपनी भाषामें न होना, यह उस भाषाके साहित्यकी निःसंशय अपूर्णता का द्योतक है, यह समझकर मैंने अंग्रेजीमें इस गीताकी छंदोबद्ध रचना की," ऐसे एड्विन अर्नाल्ड अपने अंग्रेजी गीता काव्य की प्रस्तावनामें लिखते है, जो की ऊपर उधृत किया है।

गीतापर जो भाष्य, टीका, प्रटीकायें हुई है, वे सब प्रायः प्रौढ़ और विद्वानों के काम की ही ठहरीं। सुलभ और बालबोध रचना से श्रद्धेय श्री विनोबाजी भावे की मराठी 'गीताई' ने यह ज्ञानदुग्ध सामान्य आबालवृद्ध स्त्री पुरुषों तक पहुंचाया, उसी प्रकार हिन्दी-भाषा-जगत में भी अल्प पढें लिखें स्त्री पुरुष ओर बाल बालिकाओंको श्री धनराजजीकी इस गीता चौपाईद्वारा 'दुग्धं गीतामृतं महत्' का सुखावह पान सुलभतासे होता रहेगा।

निखिल विश्वके सूत्रधार परमेश्वरने इस विश्व संस्थामें प्रत्येक को कुछ न कुछ जीवन कार्य नियुक्त किया है। पृथ्वी चराचर का आधार भूत हो, वायु उसे अनुप्राणित करे, सूर्य चंद्रादि उसे प्रकाश दें, जल जीवोंके जीवन के लिये अनाज, फल, फूल आदि

उपजाय, पुष्प सबके आनन्दार्थ अपने सौरभसे दशदिशाओंको सुरभित करें, रसाल आदि रसीले फल अपनी रसालतासे जीवों को हृष्ट पुष्ट करें, इस प्रकार प्रत्येक के क्रिया कलाप से प्राणिमात्र की जीवन सिद्धि हो। अतः प्रत्येक को उचित है कि वह अपना जीवन कार्य निर्वाचित करके उसकी पूर्ति में ही अपना जीवन साफल्य समझे। व्यष्टि के कार्य में समष्टि की जीवन-सिद्धि, और समष्टिकी जीवन-सिद्धि में व्यष्टि की परिपूर्णता का पारस्परिक संबंध है।

श्री गीता चौपाई की निर्मिति श्री धनराजजी की इसी कर्तव्य निष्ठा से प्रेरित होकर हुई है, और इसमें संदेह नहीं कि यह कर्तव्यनिष्ठा उनकी कुलपरंपरासे चली आ रही है। मूलतः श्री धनराजजी राजस्थानके हैं। और आजभी उनके बंधुओं और सगे संबंधियोंका वास्तव्य अरवली के आबू पहाड़पर तथा जयपुर अजमेर, नसीराबाद आदि राजस्थान के स्थानों में हैं। उन्नीसवी शताब्दिके उत्तरार्धमें धनराजजीके पितामह स्व. श्री गणेशरामजी पैदल तीर्थ-यात्रा करते करते नासिक क्षेत्रमें आ पहुंचे। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्रजीका वनवास समयका निवासस्थान, तपोभूमि और परम पुनीत श्री गोदावरीजीका तट देखकर यहांही व्यापारद्वारा उपजीवन करनेकी ठान ली। परंतु उपजीवन तो उपजीवन ही रहा, मुख्य जीवन इस घरानेका है धर्म।

स्व. श्री गणेशरामजी गोस्वामि श्री तुलसादासजी के चौपाइयों के परम भक्त थे, सदैव तुलसी की रामगंगामे सुस्नात रहते थे।

आप साधारण व्यवहार में भी सबको "राम" कहते थे और जनता भी आपको 'राम' ही पुकारतीथी। घरमें रहते हुए भी सर्व संग परित्याग कर चुके थे। केवल एक धोती से ही बारहों मास आपका शरीराच्छादन होता था। राम प्रहर में चार बजे श्री गोदावरीजी के रामकुंडपर स्नान संध्या ध्यानादि नित्य कर्म करके, मंदिरोंमें देवताओं के दर्शन तथा साधु महात्माओं से सत्संग करके, प्रायः ग्यारह बजेतक घर लौटते थे। आपके अन्त समयकी एक आख्यायिका प्रचलित है। अन्त समय आप कुछादिन ज्वरादिकसे पिडीत थे। देव प्रबोधिनी कार्तिक शुक्ल ११ को प्रातःकाल में अपने पुत्र से रामकुंडका जल मंगाकर स्नान किया। नया यज्ञोपवीत धारण किया। वेदमूर्ति भूदेव ब्राह्मणोंको बुलाकर स्वहस्तसे धन धान्यादि दान दिये। गीता व तुलसी रामायण के कुछ भाग अपने पौत्रों से सुने। लगभग ११ बजे आपके गंगा गुरु पंडेजी आये और पूछा कि "क्या राम क्या बिचार है" "आज जाना है राम" पंडेजी पंचांग देखकर बोले "राम! परसूं वैकुंठचतुर्दशी है, शामको आठ बजकर पांच मिनटपर स्वर्ग का द्वार खुलेगा, परसूं जाना ठीक है" "अच्छा राम! जैसी ब्राह्मण देव की आज्ञा. आज नहीं जायँगे" और आश्चर्य यही की वैकुंठचतुर्दशी की शामको बराबर आठ बजकर पांच मिनट पर ही नश्वर शरीर को छोडकर आप वैकुंठ धाम सिधारे।

यही धार्मिकता श्री धनराजजी के स्व. पिता श्री जवाहरलालजी और माता गोमती देवी में परंपरा से आई थी। श्री जवाहरलालजी नित्यप्रति गंगास्नान और पंचवटी के श्री रामचंद्रजी के दर्शनसे कभी वंचित नहीं रहे। मानसादि ग्रंथोंका नित्य पठन किया करते थे।

माता गोमती देवी भी नासिक के गोतमी मध्यावत् अत्यंत पवित्र और सच्चरित्र पतिव्रता थी ।

इस परम धर्मश्रद्ध पिता, पितामहके कर्तव्य निष्ठ चारित्र्य प्रवाहमें श्री धनराजजी का जीवन निर्माण हुवा । बाल्यावस्था से ही श्री तुलसीदासजी की मधुर चौपाइयों का नाद उनकें कानों में गूंजता था । आयुके चौदहवें वर्षसेही गीता पढने का व्यसन लगा जो आजतक प्रतिदिन चालू है । संस्कृत भाषा लेकर सन १९२० में मॅट्रिक उत्तीर्ण हुए । तत्कालीन राष्ट्रीय [illegible] आंदोलन में फर्ग्युसन् कॉलेज् छोड़कर पूनाके राष्ट्रीय महाविद्यालय में प्रविष्ट हुए । परंतु कुछ कारण वशात् महाविद्यालय भी छोड़ना पड़ा और व्यापार में पड़े, परन्तु संस्कृत विद्याका व्यासंग उन्होंने नहीं छोड़ा ।

जिस पुराने नासिक में धनराज रहते थे उसी स्थानमें संस्कृत ज्ञान-प्रपा घालने वाले एक शास्त्रीजी थे जिन्हे ' लंडन शास्त्री ' कहते थे । कारण सचमुचही शास्त्रीजी लंडन जा आये थे और तत्कालीन इंग्लेन्ड के पंत प्रधान श्री ग्लॅड्स्टन से मिल चुके थे । सनातनी शास्त्रीने इंग्लेंड को जाना एक नवां अद्भुत माना जाता था, और इसीसे लोग उन्हें " लंडन शास्त्री " कहते थे । आप मधुकरी भिक्षासे जीवन निर्वाह करते थे । कभी किसी से कुछ लेते नहीं थे । आप संस्कृत विद्याके मायका थे । धनराज इन्हींके पास रघुवंश, उत्तर रामचरित्र बाणभट्टकी कादम्बरी आदि काव्य ग्रंथ पढ़े

कैलास मठके संस्थापक श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य मंडलेश्वर श्री स्वामी श्री हृदयानंदजीके प्रवचन उपनिषद् ब्रह्मसूत्र

आदि वेदान्त ग्रंथोपर प्रति दिन हुवा करते थे। नासिक के आज के पंडित प्रवर श्री. श्रीधरशास्त्रीजी वोरे वहां जाया करते थे। उसी प्रकार धनराजभी इन प्रवचनोंका नित्य लाभ उठाया करते थे। इस अध्ययन से श्री गीताजीके तत्वज्ञान की पार्श्वभूमि समझने में धनराज को बहुत सहायता हुई और गीतार्थ ने उनके मनमें अच्छी पकड़ ली। गीतार्थ के हेतुही मूल महाभारतका उन्होने वाचन किया।

श्री धनराज के कथनानुसार इस गीता चौपाई के निर्माण की कथा भी अति रोचक है। आपका गीतापाठ प्रभात में पूजा समय नित्य चलता था। आपकी वाणी बचपनसे ही गीर्वाण वाणीसे संस्कारित होनेसे इस गीता पाठके समय गीताके मधुर ध्वनिसे घर भर जाता था। पूजा साहित्यादि देने निमित्त आपकी धर्मपत्नी भी नित्य उपस्थित रहती थी। पारिवारिक जीवन में जब आपके पुत्र पढ़ने योग्य हुये तो उन्हों को भी गीतापाठ देना आरंभ किया। एक दिन बाल मंगेश व पुरुषोत्तमको 'पुरुषोत्तम योग' का पाठ दे रहे थे कि आपकी धर्म पत्नी भी बोल उठी कि "मुझको भी गीता सिखावो"। उस केवल अक्षर परिचित और अबोध पत्नी का यह वचन सुनकर आपको आनन्दातिशय होना स्वाभाविक था। परंतु संस्कृत शब्दोच्चार की कठिनता देखकर गीता चौपाई बनाने की स्फूर्ति हुई

"श्री गीताजी का अनुवाद चौपाइयों में करना है तो शब्द शब्द का अर्थ शुद्धतर और स्पष्टतर हो इस लिये आपने गीताजी पर के भाष्य टीका प्रटीकायें मंगाकर उनका अध्ययन करना आरंभ किया।

श्री शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभादि आचार्यों के भाष्य तो पढ़े ही पर इनके अतिरिक्त श्री निलकंठ के भारत-भाव-दीपिकासे गीता-श्लोकोंका भाव, श्री जयतीर्थ के प्रमेयदीपिकासे गीता के प्रमेयों को सुलझाने का प्रयत्न, श्री मधुसूदन की गूढार्थदीपिकासे गूढोंका स्पष्टी करण, श्री दैवज्ञ पंडित सूर्य की परमार्थ-प्रपासे चौपाइयों में स्थान स्थान पर परमार्थ जल का सिंचन, श्री धनपति सूरि के गीता-भाष्योत्कर्ष से गीतार्थ में उत्कृष्टता लानेका शक्त्यनुसार प्रयत्न किया है। गीतार्थ में वादस्थलोंके पिशाच शान्त करने के लिये श्री हनुमंत के पैशाच भाष्य का भी आश्रय लिया। तथा श्री ज्ञानेश्वरजी की भावार्थदीपिका अर्थात् ज्ञानेश्वरी, श्री लोकमान्य तिलकजीका गीता-रहस्य, श्री सदाशिवशास्त्री भिडे की गीता-रहस्य दीपिका, श्री करंदीकर जी की गीता मंजरी, गोरखपुरके कल्याण का गीता-तत्त्वांक आदि ग्रंथों से गीतार्थ सुलभ करनेके लिये सहायता ली। श्री पुरुषोत्तम की अमृत-तरंगिणी में गीता चौपाई को सुस्नात कराया। इसी प्रकार अनेक शास्त्री पंडितोंको अपनी गीता चौपाई बताकर तथा उन्होंसे चर्चा करके उनकी उपयुक्त सूचनायें कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण कीं। गीतार्थ सुबोध और सुगम हो इसलिये शब्दोंमें अनेकवार परिवर्तन होता था और इसलिये उन्होनें कईबार गीता चौपाई स्वहस्तसे लिखकर निकाली। सुगेय करनेके लिये संगीत गायकसे चौपाई के अनेक रागों में समग्र गीता-चौपाई गवाई। तोभी श्री धनराज अपनी कृतिको निर्दोष समझते नहीं। मुद्रित होनेपर भी सुधारोंके प्रयत्न नित्य चले ही हैं।

धनराज आज मुद्रित स्वरूप में हिंदी रसिक पाठकोंके सामने अपनी गीता चौपाई रखते हैं। मूलतः जिस धर्मपत्नी के लिये गीताजी

का अनुवाद चौपाईयोंमें किया गया, वह उनकी धर्मपत्नी गीता चौपाई देखे बिना स्वर्ग को सिधार गई यह उनके मनमें खटकना स्वाभाविक है। परंतु अर्जुन को कहि गई गीता जिस प्रकार सारे जगत्को विश्वधर्म बताने के लिये समर्थ है, उसी प्रकार अपनी अबोध धर्मपत्नी के लिये लिखि गई उसी गीतापर की यह चौपाई-मयीगीता आबाल स्त्रियोंको उपयुक्त ठहेरगी ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है। जिस प्रकार चातकोंके लिये की हुई मेघकी वृष्टिका जल सारे प्राणिमात्र के उपयोगी है उसी प्रकार इस गीता चौपाई का समझना योग्य है।

श्रीराम गोस्वामी
संस्कृति ज्ञानशाला
नासिक
१८७३ आषाढ शुक्ल १५

ल. स. वैद्य
मराठीसे हिन्दी अनुवादक

कृण्वं वन्दे जगद्गुरुम्

"धन्नाकी" गीता चौपाओ

[समीक्षण]

धर्म विद्वित युधसे बढ़कारी । अन्य न क्षत्रिय लगि हितकारी ॥

(गीता चौपाओ २।३१)

मेरे सहाध्यायी और मित्र, धनराज श्रेष्ठीजीकी 'गीता चौपाओ' नामकी यह पुस्तक अेक अनोखी वस्तु है। मै अुसका सहर्ष स्वागत करता हूँ। नासिकक्षेत्रमें धनराजजीकी आजतककी सारी जीवनी बीत चुकी है। संस्कृत भाषापर बचपनसे आपका गाढ़ा प्रेम! वीतराग भिक्षाजीवी "लंडन भटजीके" पास धनराजजीकी प्रारंभमें संस्कृतकी पढ़ाओ हुओ। हिंदी तो आपकी मातृभाषाही रही। संस्कृतके और गीता वेदान्त के संस्कार भिक्षानंद लंडनभटजीसे लेकर कैलास मठके स्वामी हृदयानंदजीतक धनराजजीपर हुअे हैं अैसा कहा जाय तो अुसमें अतिशयिता न होगी। धनराजजीका गीताजीका अध्ययन छुटपनसे चौदहवें वर्षसेही हुआ करता था। आज ५२ वर्षकी परिपक्व अवस्थामें आपने "गीता चौपाओ" की रचना पूर्ण की है। आज तीन साल हुअे रोज चौपाअियोंका चिंतन और मेरे जैसे सामान्य मित्रोंके साथ अुनके सम्यक् अर्थके बारेमें कभी कभी चर्चा यह धनराजजीका अखंड क्रम रहा। आज धनराजजीकी तपश्चर्या पूरी हुओ है और बहुतांशमें सफलभी हो चुकी है।

गीताका पठन और अध्ययन करना यह धनराजजीका प्रतिदिनका नियम आजतक चालू है। परंतु जिस दिन गीताजीपर

चौपाअियोंकी रचना करनेकी धनराजजीने अपने मनमें ठान ली बस अुसी दिनसे अुनके सिरपर धुन सवार हुअी । रोज चौपाअियोंकी रचना करना और पढ़कर सुनाना यह आपका अेक व्यवसाय बन चुका । धनराजजी मिठाअी बेचते है । जब मिठाअी तराजुके पलड़ेमें अपने हाथोंसे डालते है, अितनी दक्षतासे आप तोलते हैं कि एक रतिकाभी फरक न हो । गीताचौपाअियां बनानेमें आपने पूरेपूर अिसी वृत्तिका अनुसरण किया है । अठारह अध्यायोंकी चौपाअियां पुरी होनेके बाद अुनकी फिरसे समालोचना करना शुरू हुआ और पंद्रह बार समग्र गीताश्लोक और चौपाअियां लिखीं गअीं । आज जो पुस्तक पाठकोंके सामने प्रस्तुत की गअी है, वह सोलहवां हस्त लिखित संस्करण है । क्या मजाल है कि पाठक अिस 'सोलह आने सुन्दर' गीता चौपाअी को न अपनाअें !!

चौपाअियोंका अर्थ निर्दोष हो अुसमें कोअी त्रुटियाँ न रहे अिस लिये धनराजजीने श्री शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य तथा लो. टिळक, भिडेशास्त्री अित्यादि आचार्य और पंडितोंकी गीता-भाष्यादि टीकाअें गौरसे पहले पढ़लीं और चौपाअियाँ बनाने में अर्थ की दृष्टिसे सतर्कता रखनेका जतन किया । कअी स्थान अैसे हैं कि जहाँ श्रीशंकराचार्य के अर्थ स्वीकृत किये हैं । कितेक स्थानपर श्री रामानुजाचार्यको अग्रसर माना गया है । परंतु ' स्वतंत्र बुद्धिसे ' चौपाअियोंका अर्थ करनेमें भी धनराजजी सजग रहे हैं, यह विशेषता है । ' गीता चौपाअी ' यह अेक अेकनिष्ठ प्रयत्नोंका फल है । घर्षणसे जैसे विद्युत् निर्माण होती है अुसी अनुसार प्रयत्नोंसे कअी

स्थानोंमें आपकी स्फूर्ति भी चमक उठी है । यह प्रशंसनीय प्रयत्न और स्फूर्ति की बिखरी हुअी विद्युत् " गीता चौपाअी में " किस तरह प्रस्फुरित हो अुठी है यह जनाबनेकी कोशिश अब मैं करूंगा ।

" गीता की चौपाअियाँ " बनाना यह तो दिखावेमें सीधा काम है । परंतु यह " निशागीत " नहीं है कि ' चलचित्रोंके गीत ' भी नहीं हैं कि जिनमें अुत्तरदायित्वकी किसी भी अंशमें आवश्यकता नहीं होती । वृत्तोंमें रूपांतर करना और वह भी श्री गीता का ! अेक कठिन कार्य है । अिसके लिये सत्याग्रहीका आचरण करना पडता है । सत्याग्रही जैसे अपनी अिच्छासे स्वयं ही जेलमें जाते हैं, छंदानुवादककी भी यही दशा होती है । सोलह मात्राअें हो, उनके आठ आठके या सात नउके ही खंड हो आदि अन्त में जगण का शब्द न हो, अेक या दो अनंत कठिनाअियाँ स्वयं अुसे स्वीकार करनी होती है । पहले ' बंदी ' होजाना और फिर ' स्वतंत्र ' रचना करना ! अजीब है ! अिसी लिये तो सोलहबार अिन चौपाअियों का परिशीलन करना पड़ा । श्रीराम चरितमानस का कअी बार धनराजजी ने पठन किया है, अतः श्री गोस्वामीजी की असीम कृपासे ' चौपाअी ' बिना विशेष कष्टसे अुनकी लेखनीसे प्रस्रवित हुअी है ।

अनुवाद के कुछ नमूने!

" क्षणे क्षणे यन्नवतां अुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः " यह अेक कविका सुंदर वचन है । अिस दृष्टिसे श्री गीताजी जैसा रमणीय ग्रंथ दुनियाँमें हुआ नहीं, वर्तमान कालमें होना संभव नहीं और भविष्य में हजारों वर्षों के बाद जगद्गुरु श्री कृष्णचंद्रजी

अवतार धारण करेंगे तोही होगा !! गीताजीका चौपाअियों में जो यह अनुवाद है, मैं पाठकोंके रसास्वादके लिये अुस अनुवाद से कुछ सुंदर और बुद्धिप्रधान नमूने यहाँ अुद्धृत करता हूँ।

प्रथमतः शब्दोंके अर्थोंके कुछ नमूने दे रहा हूँ। श्री. धनराजजीने घंटों गौर करकेही शब्दोंके अर्थ की व्यवस्था की है। केवल कोशकी सहायता लेकर अेक शब्दके सामने दूसरा शब्द रखनेका यंत्रवत् कार्य नहीं किया गया।

'क्लैब्य' शब्दका अर्थ 'दुर्बलता' दिया गया है। 'हृदय दौर्बल्य' अुसी श्लोकमें आगे है, जहांतक हो सका गीतामें जो शब्द आये हैं अुनका अर्थ गीता ग्रन्थसें ही खोजकर देना यह नियम रखा गया है। 'मोहकलिल' का अर्थ 'मोहरूपी कीचड़' बताया है 'व्यामिश्रवाक्य' का अर्थ 'मिले हुये वचन' है। 'कृत्स्नविद्' का 'पूराज्ञानी' दिया है। 'विगुण' का अर्थ 'कम गुण' 'महाशन' का अर्थ 'अतिखाऊ' 'मध्यस्थ' का अर्थ 'अुभपक्षी' और 'अुदासीन' का अर्थ 'अपक्षी' है। 'अनिर्विण्णचेतसा' का अर्थ 'अथक चित्तसे' अति सुन्दर है। 'अवश' का अर्थ 'बरबस' बहुत ही योग्य है। 'संघात' का अर्थ 'मेल करन्' और 'अेतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं' का अर्थ 'अस ये बीस ज्ञान पथ जाना' अैसा नवीन अनुवाद है। 'ज्ञान पथ' की कल्पना अभिनव है। अुसी अध्यायमें दिये हुअे 'ज्ञानपथ' के लक्षण अुल्टे बनाकर 'अज्ञान पथ' दिग्दर्शित हो सक्ता है। 'द्रष्टा' का अर्थ 'तत्त्व सुजाना' बताया गया है। धन्नालालजी 'सुजाना' के बड़े प्रेमी हैं। 'मतवाले' यह अर्थ 'स्तब्धाः' का कितना सुंदर है? 'निजमति अनुरागा' यह सुस्पष्ट अर्थ 'काम कारतः' का है। 'अनुद्वेगकरं वाक्यं' का तैल चित्र 'वचन जो न किसिको अकुलावे'

इस चौपाओ चरणमें कितना चंगा माल्म होता है ? 'अग्रे' पदका 'प्रथमं प्रथम' भाषान्तर बुद्धिमानीका दर्शक है। 'अशुश्रूषुका' 'जो सुनना नहिं चाही' यह स्वतंत्र अनुवाद नहीं है अैसा कौन कहेगा? 'स्वाध्यायाभ्यसन' का अर्थ 'सद्ग्रन्थपठन' कितनी चतुराअिसे खोजा है ?

पहले अध्यायमें "दिव्यौशंखौ प्रदध्मतुः" यह अेक चरण है। धनराजजीकी संस्कृतज्ञता अिस सरल चरण का भाषान्तर करनेमें अल्पशः व्यक्त हुअी है। "निज निज सुंदर शंख बजाये" यह उसका भाषान्तर है। 'कुरून्' का 'कुरुवालोंको' यह भाषान्तर अच्छाही है। 'सोऽमृतत्वाय कल्पते' यहांभी 'कल्प' धातुके अर्थका सम्यक् आविष्कार 'योग्य मोक्ष लगि सोही माना' अैसा किया गया है। 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' का अर्थ सुस्पष्ट करके 'विफल कामना क्रोध करावे' दिया गया है। 'नित्यं दर्शन कांक्षिणः' का 'दर्शन हेतु सदा ललचाई' यह मनहारी अनुवाद है।

शब्दों के अर्थ के अनन्तर अब मैं कुछ चौपाअियों के सूत्रमय और सुन्दर चरण उद्धृत करता हूँ।

अपने आपहि चलकर आया
स्वर्गद्वार जनु खुल्ला पाया (२।३२)
पर परधर्म होअि भयकारी (३।३५)
कर्मन् की गति गहरी होअी (४ १७)
मेरा भक्त न कबहुँ नशाअी (९।३१)
अधम तमोगुण महँ बर्ताना
वे तामस गति नीच लहाना (१४।१८)

मन अुदास नहिं दुखमें होअी ।
आस रखे नहिं सुखमें कोअी (२।५२)
समता ही को योग बखाना (३।४८)
निज निज कर्मन् महँ रत जोअी
सम्यक् सिद्धि लहे नर सोअी (१८।४५)
संकर का फल नरक हि आही (१।४२)
योग कुशलता कर्मन् मांही (२।५०)
बिना भावना शान्ति न पाई
शान्ति बिना सुख कहँसे आई (२।६६)
पर वे पापी पापहिं खाई
जे निजही के हेतु पकाई (३।१३)
मरण स्वधर्म हि में हितकारी
पर परधर्म होइ भयकारी (३।३५)
नहिं पवित्र इह ज्ञान समाना (४।३८)
ब्रह्म हि दोष रहित समता ही (५।१९)
तजे कर्म के फल पर जोई
त्यागी अस कहलावत सोई (१८।११)

योगेश्वर श्री कृष्ण जहँ, जहँ अर्जुन धनुधारि
लक्ष्मी वैभव विजय तहँ, अचल नीति मैं धारि

ये नमूने हैं । चौपाअियोंको भाषा की दृष्टि से धनराजजीने वह स्वरूप दिया है, जो श्री तुलसीदासजी की चौपाअियोंका है । भाषा सरल और काव्योंमें रूढ़ अैसी है ।

कुछ 'खटाअी'

'मिठाअी' का दिग्दर्शन तो किया अब थोड़ी खटाअीभी !! पवित्र गंगाजलमें जैसे सुसर मगर और मछलियोंकी भडमार भी होती है, गीता चौपाअियोंमें भी अैसे कुछ स्थल है। गीताचौपाअी रूपी कमल के अिर्द गिर्द कुछ काले भौरे भी मंडरा रहे हैं।

'अग जग' 'अरु' का प्रेम बढ़ाना * मांही पाहीं को दुहराना
'यत' हि 'घनेरा' प्रेम 'सुजाना' * धन्नाजी ने यह प्रिय माना

धनराजजी जैसे 'अगं' के प्रेमी है वैसे 'जग' को भी प्यार करते है। मांहीं मांई का उपयोग पदे पदे न करना तो जनु सरासर अपमान समझते हैं। संस्कृत पंडित हैं इस लिये 'यतः' का 'यत' रूपान्तर का प्रयोग करने में सिद्ध हस्त हैं। सुजान हैं इसलिये 'सुजाना' का पूरेपूर फैलाव चौपाअियोंमें दिखाअी देता है। आखिर में 'घनेरा' शब्द का मनमाना और 'घनेरा' अुपयोग करना जनु व्रत बनाया है।

अनुवाद के सिलसिलेमें मूलमें जो नहीं हैं ऐसे शब्द प्रस्तुत किये गये हैं। अध्याय १ के ४थे श्लोकमें 'सुजाना' और 'धीर महाना' ये शब्द वृत्त सुखार्थ ग्रथित किये हैं। 'सौमदात्ति' का स्पष्टीकरण 'सोमदत्त सुत भूरिश्रवा हीं' इन शब्दों में हैं। अध्याय १ श्लोक १२ में 'कुरु वृद्धः पितामहः' के भाषान्तर में 'पितामहः' का भाषान्तर व्यक्त नहीं हुआ। श्लोक २९ में 'घनेरे' शोक से शामिल हैं। श्लोक ३० में 'त्वक्' का भाषान्तर स्पष्ट करने के लिये 'सब ओरांही' ये अधिक शब्द प्रयुक्त हैं। श्लोक ३७ में 'कवन विध' (सही शब्द कौन विध) शब्द का प्रयोग है। 'अुपस्थ' शब्द का अर्थ 'पिछभाग' दिया हैं वह ठीक नहीं।

'प्रर्याप्त' और 'अपर्याप्त' शब्दों के अर्थ देनेमें 'घनेरी' भूल है। 'कार्पण्य दोष' का अर्थ 'कृपा दोष' सदोष है। दूसरे अध्याय में। १० वे श्लोक में 'भारत' का अर्थ 'भारतलाला' किया है। 'भारत लाला के आगे दो उद्‌गार चिन्हो की आवश्यकता थी। अध्याय ४ के ८ वे श्लोक के चौपाई में 'ठीका' शब्द का प्रयोग ठीक ही है। श्री मैथिलीशरण गुप्तजी के पैरोंमें पैर रखते हुअे श्री घनराजजीने 'तत्त्वतया' और 'सूक्ष्मतया' जैसे तृतीया विभक्ति के शुद्ध संस्कृतरूप अुपयोग में लाये हैं। 'राजस' के स्थान पर 'रजस' शब्द का अुपयोग भला नहीं मालूम होता। ग्यारवें अध्याय में 'उरु' का अर्थ 'जंघा' किया है। रामरक्षामें 'उरू रघूत्तमः पातु जंघे दशमुखान्तकः अैसे उरु और जंघामें भेद बताया है। हम के अर्थ में 'आपन' का प्रयोग २।१२ में हुआ है।

विभाक्ति प्रत्ययोंके बारे में मेरी अेक सूचना है कि प्रत्ययोंका लेखन (१) जोडकर या (२) तोडकर अिन दोनोंमें से अेकहि प्रकार से किया जाय तो अैधिक प्रशंसनीय होगा। पुराने याने केवल काव्यों में प्रयुक्त प्रत्ययोंका स्वैर अुपयोग 'गीता चौपाई' में होने से ही प्रत्ययोंका लेखन मुझे खटका।

चरणोंके अर्थ लगानेमें बड़ी सावधानता रखी गअी है। परंतु परंपरागत अर्थ को ठुकराने का ढाढस धनराजजी के धार्मिक मनमें कैसे अुदित हो? अिसका एक अुदाहरण है दूसरे अध्याय के ६० वें श्लोकमें 'रसवर्जं' का अर्थ निश्चित करनेमें कअी बार चर्चा हुअी और 'रसभी अिसका लौटहि जाअी * लखि अिसकी अति रस रहिताअी' यह अर्थ भी कायम किया गया। परंतु

धनराजजी ने टिप्पणी में ' रसबिनु रसभी अिसका जाअी * जब वह ब्रह्म दर्श करि पाअी ' यह अर्थ दिया तबही मनको ' शान्ति ' मिली । मेरी रायमें टिप्पणी का अर्थ 'मूलमें' और 'मूलमें' जो अर्थ है सो टिप्पणी में दिया जाता तो बढ़िया होता !

ये अितने स्वल्प दोष होने परभी मैं अिस गीता चौपाअी को प्रिय ही मानता हूँ । कारण, धनराजजी की गीता-चौपाअी से मेरी आत्मीयता है । ' अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ' यह सुभाषित प्रसिद्ध है ।

अब मैं कुछ सुधार सुझाने का साहस करता हूँ ।

१	भारी भयसे करि वह 'पालन'	भारी भयसे करि वह 'तारन'
२	'ढके ज्ञानको कामहि तैसे'	'ढका कामसे ज्ञानहि तैसे'
३	'कनक ढेल पत्थर सम माना'	'सोना ढेला अींट समाना'
४	'निजके सदृश' सबके मांही	'निज समान जो' सबके मांही
५	'अभि है अर्जुन' अुनको जानूं	'पार्थ ! अभी है' अुनको जानूं
६	मैं हि हिमालय 'अचलन' मांही	मैं हि हिमालय 'अचलों' माहीं
७	'पर' मन भयसे व्यथित विशेखा	'मम' मन भयसे व्यथित विशेखा
८	ज्ञान 'दृष्टि' के देखत ताहीं	ज्ञान 'चक्षु' के देखत ताहीं

मुझे दृढ विश्वास है कि यह गीता चौपाअी अुत्तरी भारत में किसी सुयोग्य व्यक्ति के हाथमें पडेगी तो अिसका खूब प्रचार बढ़ेगा और दूसरे संस्करण का शुभ अवसर जल्द ही आवेगा । मेरा मत है कि केवल हिन्दी चौपाअी ही प्रसिद्ध की जाय । अिस संस्करण में चौपाअी के साथ साथ संस्कृत गीता भी छपी है । सुलभोच्चार-गीताका यह एक छोटासा प्रयोग है । देवनागरी लिपिका जानकार

सुलभतासे संस्कृत भी पढ़ सके ऐसी रचना की गअी है। परंतु केवल हिन्दी जानने वालोंके लिये गीता चौपाअी (केवल हिन्दी) छपानेसे प्रचार बढ़ेगा मूल्य भी घटेगा।

मैंने ' धन्नाकी गीता चौपाअी ' शीर्षक ज्ञानतः दिया है। प्रत्येक अध्याय के समाप्तिमें ' कृष्णार्पण सो धन्ना गाअी ' इसी लिये यह अन्वर्थक शीर्षक खोजा है।

ईश्वरने धनराजजीको पूरे दो पांव नहिं दिये, काय विकल बनाया, परंतु गीता जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थपर चौपाअी रचना करनेका चौगुना बुद्धि-सामर्थ्य अवश्य दिया है 'गीता चौपाअी' इतनी अच्छी है कि यदि आज सौभाग्यवश श्री धन्नालालजी के पूज्य पिता जवाहरलालजी जीवित होते तो अपने प्रियतमपुत्र की ' गीता चौपाअी ' अपने आंखोसे देखकर फूले न समाते! मधूर वस्तु ओंका व्यापार करनेवाले धन्नालालजी की चौपाअियां पाठकों के मनमें अखंड मधुरता निर्माण करे और श्री गीताजीकी अध्ययन रूप सेवा करने के लिये अुन्हें जगद् गुरु श्रीकृष्ण रोग रहित शतायु प्रदान करे यही अन्तिम अिच्छा प्रगट करके मैं समाप्त करता हूँ

काशिनाथ रघुनाथ वैशंपायन

काव्य-पुराण-तीर्थ येवले (नासिक)

वैशाख व॥ ११।१८७

जन्म २७।२।१८९८

करि हिन्दी गीता चौपाई ❀ श्री कृष्णार्पण **धन्ना** गाई

ॐ तत् सत्

आत्मनिवेदन

जो यह परम गुह्य मम ज्ञाना * मम भक्तन् को करइ बखाना
करि मम परा भक्ति तिसपाहीं * मिलहि मुझे ही संशय नाहीं १८।६८

श्री दयामय भगवान् जगत्पिता जगद्-गुरु श्री कृष्णचंद्र के मुखकमलमे निकसित गीता परकी चौपाइयां तो उसी सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान्ने पूर्ण करलीं। यह गीता चौपाईकी निर्मिति कैसे हुई इत्यादिका दिग्दर्शन मेरे परममित्र श्री वैशंपायनजी तथा आचार्य गोस्वामीजी ने अपने समीक्षण व पुरस्कार में अनिरंजित रुप में करें चुके है। गीताके श्लोक छपाते समय अनुष्टुभ् वृत्तके नियमानुसार चरण में पांचवें और छठे अक्षरों की ह्रस्व-दीर्घता को बाधा न लाते हुये शब्द तोडकर लिखे है। जैसे 'किमकुर्वत' के स्थानमें 'किं अकुर्वत'। इससे श्लोक पढ़ते पढ़ते ही अर्थ समझने में सुलभता होती है। स्वर-संधि तोडकर लिखनेमे चरणमें अक्षर अधिक हो जाने से छंदोभंग के भयसे स्वरसंधि कायम रखे है। समास पद के शब्द भी किंचित् अलग अलग लिखे हैं, ताके संस्कृताभिज्ञोंको पढ़ने में सुविधा हो।

गीताके शब्दार्थ करनेमें विशेषतः गीताजी से ही अर्थ निकालनेका तथा जहां गीताजी में अर्थ नहीं मिला वहाँ श्री महाभारत में खोजनेका प्रयत्न किया गया है। "कार्पण्य-दोषोप हत-स्वभावः' इसका अनुवाद "कृपादोष पहिं नष्ट स्वभावा" अर्थात् कार्पण्यका अर्थ 'कृपा' किया है। अर्जुनके मनःस्थितिका वर्णन संजयने "कृपया परयाऽऽविष्टो" (१।२८।१) और "तं तथा कृपयाऽऽविष्टम्"

(२।१) इस प्रकार करनेसे कार्पण्यका अर्थ कृपा किया है। 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ' (२।३।१) यहां क्लैब्य का प्रचलित अर्थ षंढपणा न लेकर इसी श्लोक में आगेका चरण "क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं" (२।३।३) से 'दुर्बलता' अर्थ लिया है। यहां भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन की मनःस्थिति का वर्णन 'हृदय की दुर्बलता' इन शब्दो में करते है। और महाभारत में "भीष्म द्रोणौ च कार्पण्यात्, मौर्ख्यात् राधेयसौबलौ" (५।४।२) तथा 'कार्पण्यात् एव सहितास्तत्र भूपाः, नाशक्नुवन् प्रतिवक्तुं सभायाम्' (५।२९।४०) यहां कार्पण्य का अर्थ 'हृदयकी दुर्बलता' ही है। परंतु स्वतः के लिये स्वतः ही 'हृदयदुर्बलता' का प्रयोग करने में मनुष्य स्वभाव हिचकता है इस लिये कार्पण्य दोषका अर्थ कृपा-दोष समुचित समझा। "अर्थकाम" इस पदका अर्थ 'हितइच्छुक' महाभारत के "मेधाविनं ह्यर्थकामं कुरूणां..... विदुरं" (५।२६।१३) और "वासुदेवस्तूभयोरर्थकामः" (५।२८।१०) से लिया है। 'पर्याप्तम्' का अर्थ 'पूरा' Sufficient, enough जो कि सच्चा धातु गत (परि=परितः+आप्तं=प्राप्तं) अर्थ है वोही लिया है। यह अर्थ लेनेमें श्री भीष्मपितामह को कुछ दोष लगतासा दिखता है बहोत सी टीकाओं में इसी लिये 'पर्याप्तका' अर्थ 'परिमित' अथवा 'जीतनेमें सुलभ' और 'अपर्याप्त' का 'अपरिमित' अथवा 'जीतनेमें कठिन,' ऐसा लियाँ गया है। परंतु दुर्योधन अच्छी प्रकार जानता था की पितामहजी दोनों पक्षोंको समान मानते हैं और इसी लिये वह संतुष्ट भी नहीं था। "भिष्मं एवाऽभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि" १।११। यहां 'एव' दर्शाता है की ऐसे होते हुये भी भीष्म ही का सब ओरसे [illegible] आप सब मिलकर

रक्षण करें । उसकी उद्विग्नता देखकर ही "तस्य संजनयन् हर्षं (न तु विवर्धयन्) कुरुवृद्धः पितामहः । सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् (१।१२) उसको अर्थात् दुर्योधनको हर्ष उपजानेके लिये भीष्म पितामहने जोरसे सिंह-गर्जना की और शंख बजाया ।

दुर्योधनने श्री भीष्म पितामहजी से सेनापति पद स्वीकारने के लिये प्रार्थना की, तब वे कहते है "यथैव हि भवन्तो मे, तथैव मम पांडवाः । अपि चैव मया श्रेयो वाच्यं तेषां नराधिप! । संयोद्धव्यं तवार्थाय यथा समयः कृतः"। (५।१५६।१७) "न त्वेवोत्सादनीया मे, पाण्डोःपुत्रा जनाधिप! । तस्मात् योधान् हनिष्यामि प्रयोगेणायुंतसदा (२१) सेनापतिस्त्वहं राजन् समयेनापरेण ते (२२)" । 'जैसे तुम वैसे ही पांडव भी मेरे ही हैं । अुनका भी हित मुझे देखना चाहिये । तुमसे वचनबद्धता के कारण तुम्हारी ओरसे युद्ध करूंगा, पांडव मेरे लिये अवध्य है। प्रति दिन अुनके दशहजार योद्धाओंको मारूंगा, इसी शर्तपर मै तुम्हारा सेनापति होना स्वीकर करता हूं, इससे अन्य अपेक्षा नहिं करना' इस प्रकार स्पष्ट कहने पर दुर्योधन अपने पक्षको 'अपुरा' न माने तो आश्चर्य क्या? तथा संजय धृतराष्ट्र से कहते है "अहन्यहनि पार्थानां वृद्धः कुरुपितामहः, भरद्वाजात्मकश्चैव प्रातरुत्थाय संयतौ जयोऽस्तु पांडुपुत्राणां इत्यूचतुरिन्दमौ । युयुधाते तवार्थाय यथा स समयः कृतः। (६।१७।५६) भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य प्रति दिन प्रातः अुठकर एकाग्र चित्तसे "पांडवोंका जय होवो" ऐसे कहा करते है! इस प्रकार सब परिस्थितिका बिचार करके ही दुर्योधन अपनी सेनाको 'अपुरी' और पांडवोंकी सेना जो एक मार्गी

भीमसेन द्वारा रक्षित थी, 'पूरी' अर्थात् युद्ध करने में समर्थ मानता था। इस प्रकार गीतार्थ में अनेक वादस्थल हैं। यह केवल दिग्दर्शन मात्र किया है। अभी श्री दयामय भगवान्‌ने चाहा तो गीता-शब्द-कोष में धातुगत, रूढ और संदर्भानुसार अर्थ देनेका प्रयत्न करूंगा, सामग्री इकट्ठी कर रहा हूँ।

श्री भगवत् कृपासे यह गीता चौपाई बनाने में मुझे कई सज्जनो से तथा मित्रों से सहायता मिली है। अनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करना मेरा कर्तव्य है। [illegible] आचार्य श्रीराम गोस्वामीजी सतत दो मास तक प्रतिदिन घंटा डेढ घंटे का समय बिताकर गीतार्थ के विषय में प्रत्येक चौपाईपर चर्चा करते थे। आप जैसे संस्कृत विद्याके श्रेष्ठ पडित है अभी प्रकार आंग्ल विद्यासे भी विभूषित है। अतः पाश्चात्य तत्व ज्ञान के ग्रंथोंमे भी आप परिचित हैं। संस्कृति-ज्ञान-शाला स्थापन करके जैसे आप छात्रोंको गीतादि धर्म ग्रंथोंका नित्य पाठ दिया करते है, अभी प्रकार साधारण जनताको भी गीता भागवत रामायण महाभारत आदि ग्रंथो पर प्रवचनों द्वारा सन्मार्ग बताया करते हैं। इस प्रकार आप सदा व्यग्र होते हुये भी आपने प्रतिदिन लगभग दो मास तक अपना अमूल्य समय मेरे साथ चर्चा करने में बिताया इस लिये आपको जितने धन्यवाद दूं थोडे ही हैं। आपके साथ गीतार्थ चर्चा करनेसे मुझे बहुत ही लाभ हुआ हैं।

षड् दर्शनाचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्रीजी एम्. ए. इन्होंने समग्र गीता चौपाइयां पढीं और सुनीं। प्रत्येक चौपाइ छंद-शास्त्रके अनुसार सूक्ष्मतया देखी, और जहां कहीं छंदोभंग था वहां ठीक करवाया। आप लाहोर ब्राह्म विद्यालय के कुलपति

(Principal) थे. आपका षड् दर्शनोंका अभ्यास गहरा है। आपने सामवेदपर भाष्य लिखा है. आपका सारा समय लेखन व्यवसायमें व्यतीत होता है। देश विभाजन के समय आपकी आर्थिक हानि तो हुई ही परतु आपको अपने बहुमूल्य ग्रंथालयसे वंचित होना पडा इसका अधिक तर खेद है. अभी हाल आप कर्म मीमांसापर ग्रंथ लिख रहे है। इतने पर भी आपने समय निकालकर जो सहायता करी उस लिये हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

श्री काळिनाथजी रघुनाथजी वैशंपायन मेरे सहाध्यायी और परम मित्र है। आप साहित्य और पुराणतीर्थ हैं तथा संस्कृत मराठी और हिन्दी के ख्यात नाम कवि है। हाल ही में आपने श्री शिवमहिम्न स्तोत्र की हिन्दी समश्लोकी प्रसिद्ध की है। असहकारिताके आन्दोलन में आप कॉलेज छोड़कर राष्ट्रीय विद्यालयों में अध्यापन का काम करने लगे और आज भी वही पवित्र कार्य कर रहे हैं। आपकी चार पांच बार जेल यात्रा भी हो चुकी। आप वर्धा हिन्दी प्रचारिणी सभाके कार्याध्यक्ष तथा परीक्षाओंके परीक्षक हैं गीता चौपाई की पहली प्रत लिखी तबसे ही आप अमूल्य सहायता दे रहे हैं। आप की सहायता के लिये मैं कृतज्ञता प्रगट करने में असमर्थ हूं।

मेरे मित्र पंडित हीरालालजी कथा वाचक ने हार्मोनियमपर सारी गीता चौपाई अनेक रागोंमे गाकर बताई। आप एक अच्छे गायक और कथावाचक हैं और पद्यों का अर्थ भी उत्तम समझाते हैं। आपने २०।२२ दिन जो कष्ट उठाया अुसके लिये अन्तःकरण से धन्यवाद!

मेरे मित्र श्री छेदालालजी अग्रवाल ने छंदोभंग दोष सुधार नें में बहुत सहायता दी. धन्यवाद। मेरे मित्र श्री विष्णु नारायण पेंडसे ने छपें प्रूफ संशोधन का कठिन काम किया, हार्दिक धन्यवाद!

मुद्रक श्री शाहूलालजी तिवारीने बहुत परिश्रम उठाकर यह गीता चौपाई ग्रंथ छापा है, तथा अुनके कामदारोंने अन्तिम प्रूफ में भी कभी कुछ शब्दों का परिवर्तन किया तो सहर्ष परिवर्तित कर के छापा हैं इस लीये उन सभीका अत्यंत आभारी हूँ।

पाठक सज्जनोंसे नम्र भावसे प्रार्थना कि इन गीता चौपाइयों में जहां कुछ अर्थ, और सुगेय की दृष्टिसे जो कुछभी त्रुटियां हो कृपा करके मुझे लिखें, और जैसे समीक्षणकार मेरे मित्र श्री वैशंपायनजीने कुछ सुधार बताये हैं अुसी प्रकार जो पाठक सुधार लिखेंगे साभार स्वीकार करूंगा। संयुक्ताक्षरोंके तथा दीर्घ मात्राके शब्दोंके स्थानमें सरल और लघुमात्राके शब्दों की चौपाइयां बांचने और सुनने में अच्छी मधुर और प्रिय लगती हैं ऐसे सुधार विशेष आदरणीय होंगे।

अन्तमें अुसी दयामय भगवान् श्री गोपाल कृष्ण को प्रणाम करके विराम.

धन्नालाल जवाहरलाल अग्रवाल.

नासिक.

वैष्णवरत्न श्री महंत सीतारामाचार्य शास्त्री का आशीर्वाद

दोहा

धन्य हु धन्नालालजी, करि गीता चौपाइ।
मर्म हि गीता अर्थका, पद लालित्य समाइ ॥१॥
लोकमान्य श्री तिलक कह, गीता कर्म प्रधान।
अरु चिद्घनानन्द गहे, मत अद्वैत प्रमाण ॥२॥
शंकर रामानुज लहे, निज निज मत इस माहि।
कृष्णचंद्र मुख वचन के, नाहिं यथार्थ बताहिं ॥३॥
साधारण जनता हि जो, संस्कृत समझत नाहिं।
उनलगि भाषा मांहि यह, रचि गीता चौपाइ ॥४॥

चौपाई

अग्रवाल कुल में अवतरके * जन्म सफल कीन्हा तन धरके
संस्कृत विद्या कठिन पढ़ाई * गुरु गणेश मुखसे तुव पाई ॥५॥
गुरुबिन ज्ञान मिलै नहिं कबहूँ * भटकत फिरै यदपि सब जगहू।
संस्कृत इंग्लिश हिन्दि मराठी * गुजरातीं मरु भाषा पाठी ॥६॥
षट् भाषामें रहे प्रवीणा * बहुश्रुत रामभक्ति मे लीना।
वणिक पुत्र वाणिज निजकर्मा * तदपि रमत निजशास्त्र सुधर्मा ॥७॥
सकल मनोरथ सिध होजाई * घर घर हो गीता चौपाई।
केशव पूर्ण कामना करही * तनुमन वाचिक अघ सब हरही ॥८॥
सीताराम शास्त्रि मम नामा * आशीर्वाद देउँ शुभकामा।
पंचवटी गंगातट रहहूँ * तव शुभ चिंतन प्रतिदिन करहूँ ॥९॥

महन्त सीतारामाचार्य शास्त्री,
नासिक.

श्रीमत् परमहँस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रहम् निष्ठ मण्डलेश्वर १०८ श्री स्वामी अखण्डानन्दजी का आशीर्वाद

कैलास मठ, पंचवटी, नासिक. १०-९-५१

॥ श्रीहरिः ॐ तत्सत् ॥

विक्राल महामोह ज्वालामाला संतप्त प्राणी को सच्ची शान्ति देनेवाला एकमात्र तत्त्वज्ञान ही है । वेद इस बात का समर्थन स्पष्ट शब्दो में करते हैं । वह तत्वज्ञान गीता उपनिषद् के विचार से प्राप्त होता है । उस में भी उपनिषद् की अपेक्षा गीता की भाषा सरल है और गीता उपनिषदों का सार है । भगवद् गीता संस्कृत भाषा में है । जो संस्कृत भाषा अनभिज्ञ है वह भगवद् गीता का विचार नहीं कर सकते ।

श्रीमान् सेठ धन्नालाल जवाहरलालजी ने बड़ी अच्छी सरल भाषा में चौपाइयों में गीता का तत्त्व समझाया है । आप हमारे मठ के विद्यार्थी है । आपका परिश्रम प्रशंसनीय है । संस्कृत-भाषा-अनभिज्ञ जनता आपकी बनाई हुई **गीता चौपाई** पुस्तक से लाभ उठावे ऐसी मैं आशा रखता हूँ । तथा आपकी बनाई श्री **गीता चौपाई** की प्रसिद्धी होवे ऐसा मैं चहाता हुँ, तथा प्रभु से प्रार्थना करता हुँ । नारायण स्मरण पूर्वक आशीर्वाद ।

स्वामी अखण्डानन्दमण्डलेश्वर
ॐ शिवम्.

गीता चौपाई

श्रीमद् भगवद् गीता का हिन्दी अनुवाद " गीता चौपाई " पढ़नेसे मुझे अत्यन्त संतोष हुआ। यद्यपि भारतीय महिलाओंमें उच्चतर शिक्षाका प्रचार हो रहा है फिर भी संस्कृत भाषासे सुपरिचित महिलाअें भारतमें बहुत कम है। श्रीमद् भगवद् गीता की श्रेष्ठता तथा मौलिकता संसारमें सर्वश्रुत है। ऐसे ग्रन्थ से केवल भाषाकी अज्ञानतासे विन्मुख रहनेका भारतीय नारीका दुर्भाग्य अनुवाद कर्ताने मिटाया है।

" गीता-चौपाई " यह अनुवाद अत्यन्त सुन्दर हुआ है। चौपाई जैसे गेय छन्द के चुनाव से गीता चौपायी सुलभतासे कंठस्थ की जायगी। अनुवाद भी अत्यन्त सरल होनेसे दुर्बोधता कहीं भी नहीं पायी जाती। एक अनुष्टुप् श्लोकका अनुवाद एक ही चौपाई में किया गया, अतः ग्रन्थ का विस्तार भी आवश्यकतासे अधिक नहीं हुआ। अनुवादमें तत्सम शब्दोंकी अपेक्षा तद्भव शब्दोंका प्रयोग अधिक किया है इसलिये अनुवाद में मधुरता भी आगयी है।

एवं यह अनुवाद हिन्दी साहित्यको तथा भारतीय नारीको अनुवाद-कर्ताकी अमोल देन होगी।

नयी दिल्ली

८-९-१९५१

सौ. सुमन सिद्धये

B. A. (Punjab University.)

हिन्दी साहित्य रत्न (इलाहाबाद.)

वंदना

सत्ता चैतन्यमानन्दः, त्रयं यत्र समन्वितम् ।
गणेशं तमहं वन्दे, सच्चिदानन्दमीश्वरम् ॥ १ ॥
भक्तेष्टसाधकं भव्यं, नृसिंहं कुलदैवतम् ।
भक्त्या नत्वा हृदि ध्यात्वा, प्रार्थयेऽहं तमाशिषम् ॥ २ ॥
नारायणं नमस्कृत्य, नरं चैव नरोत्तमम् ।
व्यासं सरस्वतीं देवीं, प्रांजलिः प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥
पराव्यक्तो ऽधियज्ञश्च, क्षेत्रज्ञः पुरुषोत्तमः
देहेऽस्मिन् पुरुषः परो, नमस्तस्मै चिदात्मने ॥ ४ ॥
मातरं गोमतीं वन्दे, सुशीलां पुत्रवत्सलाम् ।
श्री जवाहरलालं च, जनकं मे सुधार्मिकम् ॥ ५ ॥
तथा गणेशरामं च, योगिनं मे पितामहम् ।
रामभक्तं विरक्तं तं, सादरं प्रणमाम्यहम् ॥ ६ ॥
येन प्रोत्साहितो नित्यं, कृतावस्यां पदे पदे ।
श्रीकृष्णं श्रीधरात्मजं, तं गुरुं प्रणमाम्यहम् ॥ ७ ॥
गीर्वाणशिक्षकं प्राज्ञं, सर्व-संग-विवर्जितम् ।
ख्यातो 'लेंडनभट्टो' वै, श्रीगणेशं नमाम्यहम् ॥ ८ ॥
स्वामिनं हृदयानन्दं, कैलास-मठ-योजकम् ।
उपनिषत् — प्रवक्तारं, शिरसा प्रणमाम्यहम् ॥ ९ ॥
गीताया भाष्यकाराश्च, टीकाकाराश्च ये तथा
गीताऽर्थ-विशदी-कारान्, तान्सर्वान्प्रणमाम्यहम् ॥ १० ॥
शालेय-शिक्षका ये मे, विद्यादानोपकारिणः ।
बुद्धया कृतज्ञया चापि, तांस्तान्सर्वानमाम्यहम् ॥ ११ ॥
यद् हेतोः प्रकटी-भूता, गीता सत्पथदर्शिनी ।
जगद्धिताय पार्थाय, तस्मै मे शतशो नतिः ॥ १२ ॥

॥ ॐ ॥

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्यम्

एक शास्त्र गीता कहलाई * एक देव केवल यदुराई ।
एकहि मंत्र राम का नामा * हरिकी सेवा एकहि कामा ॥१॥
गीता गान करहु चितलाई * अन्य शास्त्र संग्रह विरथाई ।
पद्मनाभ-मुख-पद्म-प्रसूता * भव-भय-हारिणि अघ सब धूता ॥२॥
है उपनिषद् गाय सम सारे * श्री गोपाल कृष्ण दुहनारे ।
पीवत अर्जुन वत्स सुजाना * गीता अमृत दूध महाना ॥३॥
सब उपनिषद् वेद अरु सारे * सागर मथकर कृष्ण निकारे ।
गीता-अमृत पान कराने * सकल कर्मके बंध छुटाने ॥४॥
गायत्री, अरु गंगा, गीता, * सरस्वती, अरु सत्या, सीता, ।
ब्रह्मवल्लरी, ब्रह्मक विद्या, * मुक्ति गेहिनी, तीनिहु सध्या, ॥५॥
अर्धमात्रिका, चिद्आनन्दा, * भव-भय-हारिणि, भ्रान्ति-निकन्दा, ।
परा, अनन्ता, त्रयि वेदोंकी, * ज्ञान-मंजरी तत्त्वार्थोंकी. ॥६॥
नाम अठारह गीताके ही * निश्चल मनसे जपि जन जेही ।
ज्ञान सिद्धी वे तुरत मिलाई * अन्तमांहि गति उत्तम पाई ॥७॥
करि कर्तव्य कर्म निजका ही, * नहिं आसक्त होइ तिनमांही, ।
मानहि सिद्धि असिद्धि समाना, * कर्मफलोंको नाहिं चहाना, ॥८॥
यजन भजन हित कर्म करेही, * कृष्णार्पण सब कर्म कहेही, ।
करत काम जपि नित हरिनामा * गावै संतत हरि गुणग्रामा, ॥९॥
करै परस्पर बोध सुजाना, * हरि में मन अरु बुद्धि लगाना, ।
संतत भगवत् में रमजाना, * शुचि मनसे हरिको शरणाना, ॥१०॥

रत सब प्राणिन् के हितमांई * बुद्धि समान रखै सब मांई ।
सब इन्द्रिन्को रखि वश मांही* कछु में भी ममता करि नाहीं ॥११॥
अहंभाव की वृत्ति नसाना * अरु इह ब्रह्म-रुप हो जाना ।
श्रेणि अठारह गीता गाई * चढि एकेक मुक्ति को पाई ॥१२॥
कहे कृष्ण गीता मम ज्ञाना * गीता मेरा हृदय बखाना ।
धाम परम मम मानौं गीता * गीता सबको करै पुनीता ॥१३॥
कर्म भक्ति अरु ज्ञान जुड़ाई * गीताका अस सार कहाई ।
भक्ति-तत्त्व बढकर सबमांही * ज्ञान कर्मसे हो अधिकाही ॥१४॥
अर्जुन मिष अस कह यदुराई* स्मरहु मुझे अरु करहु लड़ाई ।
तथा ज्ञान-पथमें समुझाई * अविचल भक्ति रखहु मुझमांई ॥१५॥
कर्म करत नित मुझे भजोहू * ज्ञान मिलावत भक्ति करोहू ।
मनुज भक्तिसे सिद्धि मिलावै * भक्ति करत मम ज्ञानहिं पावै ॥१६॥
आद्य शंकराचार्य बखाना * गीतामहँ संन्यास प्रधाना ।
रामानुज ज्ञानेश्वर एही * भक्तियोग को प्रमुख कहेहीं ॥१७॥
लोकमान्य श्री तिलक बताहीं* कर्मयोग ही गीतामांही ।
गांधि महात्मा के अनुसारा * अनासक्ति का योग उदारा ॥१८॥
निज निजके स्वभाव अनुसारा* गीतामहँ सब देखत सारा ।
कर्म भक्ति अरु आत्मक ज्ञाना * इह पर श्रेयसकारि समाना ॥१९॥
करते कर्म मिलाते ज्ञाना * करै भक्ति नित समुचित जाना ।
रह भगवान भक्ति आधिना * गीतामहँ अस वचन हिं दीना ॥२०॥
शुद्धाद्वैत द्वैत अद्वैता * द्वैताद्वैत विशिष्टाद्वैता ।
नानापन एकत्व विवेका * गीतामहँ बुध हेरि अनेका ॥२१॥
सब जगमें अस भाषा नाहीं* जिसमें गीता अवतरि नाहीं ।
बुधजन मानत भाषा न्यूना * गीता ज्ञान बिना सब सूना ॥२२॥
जस भगवान् कृष्ण मति दीन्हीं*तस गीता चौपाई कीन्हीं ।
करि कृष्णार्पण **धन्ना** सोहू * गीता महिमा यह उसिको हू ॥२३॥

॥ श्री कृष्णार्पणमस्तु ॥

शुद्धि पत्र

प्रथम अंक पन्ना दूसरा अध्याय तिसरा श्लोक और चौथा चरणका निदर्शक है।

गीताजी के मूल संस्कृत श्लोकों के शुद्ध पद

२।१।५।४	**शब्यश्**
४।१।१४।३	**चैव**
६।१।२४।२	**गुडाकेशेन**
६।१।२५।२	**सर्वेषाम्**
७।१।२८।२	इदमब्रवीत्
७।१।२९।२	**शुष्यति**
७।१।३२।३	गोविन्द !
९।१।३९।२	निवर्तितुम्
१०।१।४३।१	**दोषैर्**
१२।२।२।२	समुपस्थितम्
१२।२।२।४	अर्जुन !
१२।२।३।१	पार्थ !
१३।२।६।१	**कतरन्**
१३।२।७।३	**निश्चितं**
।४	**प्रपन्नम्**
१४।२।११।३	गताऽसून्
१४।२।१३।१	**देहिनो**
१५।२।१९।३	उभौ **तौ**
१६।२।२५।४	शोणितुर्न्हनि
१७।२।२७।३	अपरिहार्येऽर्थे
२०।२।४२।१	पुष्पितां
२१।२।४६।१	**अर्थ**
२१।२।५०।३	तस्माद्
२४।२।६२।१	**पुंसः**
२४।२।६३।४	बुद्धि
३२।३।३०।३	निर्ममो
३२।३।३०।४	युध्यस्व
३३।३।३३।२	प्रकृतेर्
३३।३।३४।१	**ऽर्थे**
३४।३।३९।३	कौन्तेय !
३५।३।४३।१	बुद्ध्वा
३७।४।९।४	सोऽर्जुन !
३८।४।१५।२	पूर्वैर
४१।४।२८।३	स्वाध्याय
४१।४।३०।३	सर्वेऽप्येते
४९।५।२३।४	नरः

५५।६।२१।४	तत्त्वतः	९०।११।२।४	माहात्म्यं
५७।६।३१।३	वर्तमानो	९८।११।४४।४	सोढुम्
५७।६।३२।२	पश्यति	९९।११।५०।३	भीतमेनम्
५७।६।३३।२	मधुसूदन	१०८।१३।९।३	नित्यं च सम
५७।६।३४।२	बलवद्	१०९।१३।१२।३	ब्रह्म
५९।६।४१।१	पुण्यकृतां	११६।१४।१४।३	तदोत्तमविदां
५९।६।४४।१	तेनैव	११६।१४।१५।४	मूढ़
६३।७।१४।२	दुरत्यया	१२३।१५।१८।४	प्रार्थित
६४।७।२०।१	हृतज्ञानाः	१२५।१६।१।१	संशुद्धिर्
६५।७।२१।१	तनुं	१२५।१६।२।४	हीर्
७१।८।१६।२	पुनरावर्तिनो	१२६।१६।८।३	संभूतम
७१।८।१८।४	ऽव्यक्त	१२८।१६।१८।३	मां आत्म
७६।९।१४।२	दृढव्रताः	१३२।१७।१९।३	साद्यनार्थं
८०।९।३४।३	युक्त्वैवम्	१३४।१७।२५।४	कांक्षिभिः
९१।१०।१।१	भूय	१३९।१८।१७।३	बुद्धिर्
८१।१०।५।३	भूतानाम्	१४३।१८।३७।४	बुद्धि
८७।१०।३२।३	अध्यात्म-विद्या	१५०।१८।७१।४	प्राप्नुयात्

यह शुद्धिपत्र मेरे शालेय संस्कृत शिक्षक विद्वद्वर श्रीमान पंडित **भालचंद्र विष्णु पद्मनाभि शास्त्रीजीने** बनाकर दीया एतदर्थ मैं आपका अतीव कृतज्ञ हूं

ध. ज. अ.

हिन्दी चौपाई शुद्धिपत्र

१। २।३	द्रोण	३। ८।२	कर्म प्रशस्य
१।११।१	मार्ग	५। १।२	पुनिहि
१।१६।४	वे	५।२०।३	निर्मोही
१।१९।२	हृदय	६। ७।३	उष्ण
१।२०।३	आरंभइ जब	६।२१।४	तत्त्वसे
१।२०।४	बाना	६।२३।१	दुख
१।२५।१	प्रमुखोंके	६।३१।१	मे
१।२५।२	महिपालोंके	७।११।३	जोऊ
१।२५।३	इन्हों को	७।१८।१	सबही
१।२८।४	युध	७।२९।१	छूटन
१।३१।१	कृष्ण	७।२४।३	तत्त्व
१।३२।२	भी	७।३०।९	योग ज्ञान बिज्ञान कहाया
१।३८।३	क्षयमें	८।१४।३	मिलुँ
१।३९।३	में	९। ३।४	मृत्यु
१।४०।४	घिरजावे	९।११।३	तत्त्व
१।४२।४	क्रियां	९।१२।३	असुरन् की
१।४४।४	यदुराई !	१०।३०।१	दैत्यों
२।१०।२	भारतलाला !	१०।३८।४	होउं
२।१९।३	नाहीं	११।१६।२	रूपा
२।२२।२	पहने	१३। ५।४	ज्ञानेन्द्रिन्
२।४६।३	वेदोंमहँ	१७।१२।४	यज्ञहि.
२।४६।४	उसलागि	१८।४१।३	कर्म
२।४७।१	कर्म	१८।४७।१	स्वधर्म
२।६२।१	विषयन्	१८।५०।३	अर्जुन !
३। २।३	निश्चित	१८।५७।१	हृदय
३। ७।१	ज्ञानेन्द्रिन्		

॥ ॐ ॥

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

श्रीमद् भगवद् गीता

गीता चौपाई

— अध्याय पहला —

१	धृतराष्ट्र उवाच	१
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे		धर्म भूमि कुरुक्षेत्र हि मांहीं
समवेता युयुत्सवः ।		रण इच्छासे मिलि जे जाहीं ।
मामकाः पांडवाश् चैव		मम सुत अरु पांडव करि का ही
किं अकुर्वत संजय! ॥		कहु संजय! धृतराष्ट्र कहा ही ॥
२	संजय उवाच	२
दृष्ट्वा तु पांडवानीकम्		कह संजय; दुर्योधन देखा
व्यूढं दुर्योधनस् तदा ।		पांडव दल का व्यूह विशेखा ।
आचार्यं उपसंगम्य		निकट द्रोण गुरु पहँ तब जाही
राजा वचनमब्रवीत् ॥		बोले राजा अस वचनांहीं ॥

३

पश्यैतां पांडु पुत्राणाम्
आचार्य! महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपद पुत्रेण
तव शिष्येण धीमता ॥

देखहु पांडु सुतोंकी याको
गुरुजी! बहुत बड़ी सेनाको ।
द्रुपद पुत्रने व्यूह निकारा
बुद्धिमान् वह शिष्य तुम्हारा ॥

४

अत्र शूरा महेष्वासा
भीमार्जुन समा युधि ।
युयुधानो विराटश् च
द्रुपदश् च महारथः ॥

इहां शूर बड़ चाप धराना
रणमें अर्जुन भीम समाना ।
भट युयुधान विराट सुजाना
द्रुपद महारथि धीर महाना ॥

५

धृष्टकेतुश् चेकितानः
काशिराजश् च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश् च
शैब्यश् च नरपुंगवः ॥

धृष्टकेतु अरु चेकीताना
काशीराज महा बलवाना ।
कुन्तिभोज कर पुरुजित् भूपा
तथा शैब्य नर श्रेष्ठ अनूपा ॥

६

युधामन्युश् च विक्रान्त
उत्तमौजाश् च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश् च
सर्व एव महारथाः ॥

युधामन्यु बहु विक्रम कारी
वीर उत्तमौजा बल भारी ।
अभिमन्यू द्रौपदि सुत पांचा
महारथी ये सबही सांचा ॥

७

अस्माकं तु विशिष्टा ये
तान् निबोध द्विजोत्तम! ।
नायका मम सैन्यस्य
संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥

अब अपनेमें प्रमुख हि जे जे
जानहु द्विजवर! असही ते जे ।
मम सेनाके नायक जे ही
जानन् हेतु तुम्हें कहुं तेही ॥

८

भवान् भीष्मश् च कर्णश् च
कृपश् च समितिं जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश् च
सौमदत्तिम् तथैव च ॥

आप भीष्म अरु कर्ण प्रवीरा
कृपाचार्य रण विजयी धीरा ।
अश्वत्थाम विकर्ण तथाही
सोमदत्त सुत भूरिश्रवा ही ॥

९

अन्ये च बहवः शूरा
मदर्थे त्यक्त जीविताः ।
नाना शस्त्र प्रहरणाः
सर्वे युद्ध विशारदाः ॥

औरउ दुसरे बहु रणशूरा
मम हित प्राण त्यागने जूरा ।
नाना शस्त्र अस्त्र कर धारी
निपुण युद्धमें सबही भारी ॥

१०

अपर्याप्तं तदस्माकम्
बलं भीष्माऽभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विद मेते षाम्
बलं भीमाऽभिरक्षितम् ॥

अपुरा दल वह अपना होई
भीष्म पिता मह रक्षित जोई ।
पूरा दल पर इनका होई
भीम सेन कर रक्षित सोई ॥

११

अयनेषु च सर्वेषु
यथा भागं अवस्थिताः ।
भीष्मं एवाऽभिरक्षन्तु
भवन्तः सर्व एव हि ॥

व्यूह प्रवेश माग सब जेही
डटे रहो तहँ निज पद मेंही ।
सकल ओरसे दादा ही का
रक्षण करहु आप सब नीका ॥

१२

तस्य संजनयन् हर्षम्
कुरु वृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः
शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥

हर्ष उसे उपजावन् तांई
भीष्म बडे जो कुरुकुल माईं ।
सिंह गर्जना करि अति जोराँ
फूंका शंख प्रतापी घोरा ॥

१३

ततः शंखाश् च भेर्यश् च
पणवा ऽऽनकगोमुखाः ।
सहसैवा ऽभ्यहन्यन्त
स शब्दस् तुमुलोऽभवत् ॥

तब रण भेरी शंख भयाने
गोमुख दुन्दुभि ढोल तुताने ।
एक हि साथ बजे सब ओरा
नाद हुआ वह अतिशय घोरा ॥

१४

ततः श्वेतैर् हयैर् युक्ते
महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पांडवश् चव
दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥

धोले अश्व जुड़े तब जामें
रथ महान् अस बैठे तामें ।
कृष्णचंद्र अरु पार्थ सुहाये
निज निज सुंदर शंख बजाये ॥

१५

पांचजन्यं हृषीकेशो
देवदत्तं धनंजयः ।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखम्
भीम कर्मा वृकोदरः ॥

पांचजन्य श्रीकृष्ण गुसांईं
देवदत्त सो पार्थ बजाईं ।
पौंड्र बजाया शंख विशाला
भीम हि जाके कर्म कराला ॥

१६

अनंतविजयं राजा
कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश् च
सुघोषमणिपुष्पकौ ॥

शंख अनंतविजय मुखराया
कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर राया ।
नकुल तथा सहदेव सुहाये
अरु सुघोष मणिपुष्प बजाये ॥

१७

काश्यश् च परमेष्वासः
शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश् च
सात्यकिश् चाऽपराजितः ॥

काशीराज महा कोदंडी
महारथी बलवान् शिखंडी ।
नृपति विराट धृष्टद्युम्ना ही
सात्यकि जो कभि हारे नाहीं ॥

१८

द्रुपदो द्रौपदेयाश् च
सर्वशः पृथिवीपते! ।
सौभद्रश् च महाबाहुः
शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥

द्रुपद तथा द्रौपदि सुत पंचन्
सकल ओर से हे महिराजन्! ।
अरु अभिमन्यु जानु तक बाहू
अलग अलग निज शंख बजाहू ॥

१९

स घोषो धार्तराष्ट्राणाम्
हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश् च पृथिवीं चैव
तुमुलो व्यनुनादयन् ॥

हे धृतराष्ट्र! नाद वह भारी
तव लोगन के हृदय विदारी ।
नभ महँ भूतल पर चहुं ओरा
गुंजत रहहि नाद वह घोरा ॥

२०

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा
धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते
धनुर् उद्यम्य पांडवः ॥

नीके खडे जब हि अवलोका
वानरकेतु पार्थ तव लोका ।
करि आरंभ हि शस्त्र चलाना
पार्थ उठा करके धनु बाना ॥

२१

हृषीकेशं तदा वाक्यम्
इदं आह महीपते! ।

केशव से तब वचन कहेऊ
हे राजन्! जो सो सुनि लेऊ ।

अर्जुन उवाच

सेनयोर् उभयोर् मध्ये
रथं स्थापय मेऽच्युत ॥

दोनों सेनाके मध मांई
करहु खडा रथ मम यदुराई! ॥

२२

यावद् एतान् निरीक्षेऽहम्
योद्धुकामान् अवस्थितान् ।
कैर् मया सह योद्धव्यम्
अस्मिन् रणसमुद्यमे ॥

जब लग मैं लूं देख इन्होंको
रण इच्छासे इहां खडोंको ।
लड़ना मुझको किन किन से ही
इह इस रणके उद्यम में ही ॥

२३

योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहम्
य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्
युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥

देखहुं मै को करइ लड़ाई
जो ये यहां जुरे है आई ।
दुष्ट बुद्धि दुर्योधन का ही
रणमें प्रिय जे करना चाहीं ॥

२४ संजय उवाच २४

एवं उक्तो हृषीकेशो
गडाकेशेन भारत ! ।
सेनयोर् उभयोर् मध्ये
स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥

सुने वचन अस जब गोपाला
अर्जुन के तब हे भूपाला ! ।
दोनों सेनाके मध मांहीं
उत्तम रथ झट खडा किया ही ॥

२५

भीष्मद्रोण — प्रमुखतः
सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच "पार्थ ! पश्यैतान्
समवेतान् कुरून्" इति ॥

संमुख भीष्म द्रोण प्रमुखाके
तथा सकल ही महिपालोंके ।
कहा कि "देखहु पार्थ ! इन्हाको
भये इकट्ठे कुरुवान्शोंको" ॥

२६

तत्राऽ पश्यत् स्थितान् पार्थः
पितॄन् अथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन्
पुत्रान् पौत्रान् सखींस् तथा ॥

देखि पार्थ तहँ खडे रहोंको
काका ताऊ दादा ओंको ।
गुरु मामा अरु भाई बंधू
सुत पोते अरु हितसंबंधूँ ॥

२७

श्वशुरान् सुहृदश् चैव
सेनयोर् उभयोर् अपि ।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः
सर्वान् बंधून् अवस्थितान् ॥

श्वशुर सुजन सन्मित्र तथाही
दुहुँहि पक्षकी सेना मांहीं ।
वह अर्जुन तहँ देखि उन्होंको
खडे रहे सब बंधु जनोंको ॥

२८

कृपया परया SS विष्टो
विषीदन् इदमब्रवीत ।

परम कृपा भरि अन्तःकरना
खेद करत अस बोले बचनां ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण !
युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥

कृष्ण ! देखकर इन स्वजनोंको
युद्ध इच्छासे इह आयोंको ॥

२९

सीदन्ति मम गात्राणि
मुखं च परि शुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे
रोम हर्षश्च जायते ॥

शिथिल होत हैं मेरे गाता
अरु मुख भी अति सूखा जाता ।
कम्प होत अरु तनु महँ मेरे
ऊठत अरु रोमांच घनेरे ॥

३०

गांडीवं स्रंसते हस्तात्
त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुम्
भ्रमतीव च मे मनः

गिरि गांडीव धनुष कर पाहीं
जले देह अरु सब ओराँ ही ।
खडा रहन् अरु सक हूँ नाहीं
अरु मन मेरा जनु भरमाहीं ॥

३१

निमित्तानि च पश्यामि
विपरीतानि केशव! ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि
हत्वा स्वजन माहवे ॥

देखुं कृष्ण ! इह लक्षण जेही
प्रतिकूल हि मुझ लागत तेही ।
आगे हित भी देखहुं नाहीं
हनि स्वजनोंको इह रण मांहीं ॥

३२

न कांक्षे विजयं कृष्ण !
न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविंद!
किं भोगैर् जीवितेन वा? ॥

हे भगवन् ! मै विजय न चाहूं
राज्य, भोग, अरु सुख, भी काहू ।
कृष्ण ! हमें का राज्यहि पाहीं
का जीवित वा भोग तथाही ? ॥

३३

येषां अर्थे कांक्षितं नो
राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे
प्राणांस् त्यक्त्वा धनानि च ॥

जिनके हेतु हमें अभिलाषा
राज्य भोग अरु सुखकी आशा ।
वेहि खड़े ये इह रण मांहीं
परितजि धन अरु निज प्राणांही ॥

३४

आचार्याः पितरः पुत्रास्
तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः
श्यालाः संबंधिनस् तथा ॥

गुरु काका ताऊ सुत नाना
अरु दादा वा तेहि समाना ।
मामा श्वशुर पौत्र अरु नाती
साले अरु सब बांधव जाती ॥

३५

एतान् न हन्तुमिच्छामि
घ्नतोऽपि मधुसूदन ! ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य
हेतोः किं नु महीकृते ॥

इनको मारन् इच्छहुं नाहीं
यदपि कृष्ण ! ये मारन् आहीं ।
अपि तिहुं लोक राज्य के ताईं
किमु पुनि इक महि हेतु धराई ? ॥

३६

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः
का प्रीतिः स्यात् जनार्दन ! ।
पापं एवा ऽऽश्रयेद् अस्मान्
हत्वैतान् आततायिनः ॥

अरु धृतराष्ट्र सुतोंको मारी
कृष्ण ! होइ का प्रीति हमारी ।
लागहि हमको पाप हि सारे
इन्हें आततायिन को मारे ॥

३७

तस्मान् नाऽर्हा वयं हन्तुम्
धार्तराष्ट्रान् स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा
सुखिनः स्याम माधव ! ॥

मारन तासु उचित हम नाहीं
निज बांधव धृतराष्ट्र सुतांहीं ।
कारण, हम स्वजनों को मारी
सुखी कवन विध होउं मुरारि ! ॥

३८

यद्यप्येते न पश्यन्ति
लोभोपहत चेतसः ।
कुलक्षय कृतं दोषम्
मित्रद्रोहे च पातकम् ॥

यद्यपि ये कोउ देखत नाहीं
नशे लोभसे हिय भावाहीं ।
कुलके क्षयम दोष हि जोई
मित्र द्रोह में पातक जोई ॥

३९

कथं न ज्ञेयमस्माभिः
पापाद् अस्मान् निवर्तितुम् ।
कुलक्षय कृतं दोषम्
प्रपश्यद्भिर् जनार्दन! ॥

पर किमु हम भी यह नहिं जाना
इस पातक से लौट हि जाना ।
कुलके क्षय में दोष हि जोई
जब हम केशव! देखत सोई ॥

४०

कुलक्षये प्रणश्यन्ति
कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम्
अधर्मोऽभिभवत्युत ॥

होवहि कुलका जब संहारा
नशे सनातन कुल आचारा ।
अरु जब कुल-आचार नसावे
कुल अधर्म से सब घिरजावे ॥

४१

अधर्माऽभिभवात् कृष्ण!
प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय!
जायते वर्णसंकरः ॥

कुल अधर्म से घिरे मुरारी!
दूषित होवत तब कुलनारी ।
नारि दुष्ट तब हे यदुराई!
वर्ण मांहिं संकर उपजाई ॥

४२

संकरो नरकायैव
कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषाम्
लुप्त-पिंडोदक क्रियाः ॥

संकर का फल नरक हि आही
कुलघातिन् अरु कुलके ताहीं ।
तथा पितर उनके गिर जाई
जब कि पिण्ड जल क्रिया लुकाई ॥

४३

दोषैर् एतैः कुलघ्नानाम्
वर्ण-संकर-कारकैः ।
उत्साद्यन्ते जाति धर्माः
कुल धर्माश् च शाश्वताः ॥

कुल घातिन् के इन पापोंसे
वर्णों महँ संकर कारोंसे ।
जाति जाति के धर्म नशाई
नित के कुल आचार लुकाई ॥

४४

उत्सन्न कुल धर्माणाम्
मनुष्याणां जनार्दन! ।
नरके नियतं वासो
भवतीत्यनु-शुश्रुम ॥

जिनके निजकुल धर्म नशाई
उन लोगन् का हे यदुराइ! ।
होइ नरक में वास चिरंतन
असहि सुनत हम हे यदुनंदन! ॥

४५

अहो! बत!! महत् पापम्
कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद् राज्यसुख—लोभेन
हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥

हाय! अरेरे!! पाप महाना
करने का हम उद्यम ठाना ।
जो कि राज्य अरु सुख के कारन्
सिद्ध हुए हम निज जन मारन् ॥

४६

यदि मां अप्रती कारम्
अशस्त्रं शस्त्र पाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्
तन् मे क्षेमतरं भवेत् ॥

शस्त्र हीन अरु अ प्रति कारी
यदि अस मुझे शस्त्र कर धारी ।
हनि धृतराष्ट्र सुतन् रणमांहीं
मम कल्याण तासु अधिकाही ॥

४७ **संजय उवाच** **४७**

एवं उक्त्वा ऽर्जुनः संख्ये
रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापम्
शोक संविग्न-मानसः ॥

दोहा— रणमें अर्जुन अस कही
बैठे रथ पिछ भाग ।
बाण सहित धनु त्यागिके
शोक मांहिं मन पाग ॥

ॐ तत् सत् इति
श्रीमद् भगवद् गीतासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णाऽर्जुन — संवादे
अर्जुन विषाद योगो नाम
प्र थ मोऽध्या यः ॥१॥
श्रीकृष्णाऽर्पण मस्तु

ॐ तत् सत् इति
श्री भगवान् कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ॥
योगशास्त्र अरु ब्रह्मक ज्ञाना
अर्जुन को श्री कृष्ण बखाना ॥
पार्थ विषाद योग कहलाया
गीता महँ पहला अध्याया ॥
करि हिन्दी गीता चोपाई
कृष्णार्पण सो धन्ना गाई ॥१॥

आततायी=
आग लगाइ, देइ विष, जे ही। धोखे शस्त्र चलावइ, जे हीं ॥
स्त्री, धन, भूमि, हरण करि जे ही। आततायि अस कहि षट् तेही ॥
आततायि को बिना बिचारे। दोष न लागहि आवत मारें ॥

संकर=भिन्न भिन्न वर्ण के स्त्री पुरुषों से संतति होना

अध्याय दूसरा

१ संजय उवाच १

तं तथा कृपयाऽऽविष्टम्
अश्रुपूर्णाऽऽकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तं इदं वाक्यम्
उवाच मधुसूदनः ॥

कह संजय; तिमि कृपा बिराको
आंसु भरे व्याकुल नयनां को ।
शोक करत को अर्जुन को ही
कृष्ण वचन तब बोले यों ही ॥

२ श्री भगवान् उवाच २

कुतस्त्वा कश्मलमिदम्
विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्य जुष्ट — मस्वर्ग्यम्
अकीर्तिकर — मर्जुन ॥

मोह तुम्हें यह कहँ से होई
कुसमय मांहि घेरि अस जोई ।
आर्य असेवित स्वर्ग दुराना
पार्थ! मोह यह कीर्ति नसाना ॥

३

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ
नैतत् त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यम्
त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप! ॥

दुर्बलता को पार्थ! न जाहू
अस यह शोभत नहिं तुम काहू ।
हियका असहि तुच्छ दुबलापन
उठो त्यागकर हे अरितापन् ॥

४ अर्जुन उवाच ४

कथं भीष्मं अहं संख्ये
द्रोणं च मधुसूदन! ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि
पूजार्हौ अरिसूदन! ॥

कह अर्जुन; हरि! मैं रणमेंही
दादा भीष्म द्रोण गुरु से ही ।
लडूं सामने किमु बाणोंसे
हे मधुसूदन! पूज्य तमोंसे ॥

५

गुरुन् अहत्वा हि महाऽनुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थकामांस् तु गुरून् इहैव
भुंजीय भोगान् रुधिर प्रदिग्धान् ॥

अति उदार गुरुजन बिनु मारें
भिक्षा जीवन इह भलकारे ।
हित इच्छुक गुरु मारि इहाँहीं
भोगहुँ रक्त भरे भोगांहीं ॥

६

न चैतद् विद्मः करतन् नो गरयो
यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यान् एव हत्वा न जिजीविषामस्
तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

जानुं न हमलगि बढ़कर काहू
हम जीतें वा वे हम काहूँ ।
जिन्ह मारि न हम जीना चाहीं
वेहि खड़े कौरव प्रमुखाही ॥

७

कार्पण्य दोषोप हत—स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्म संमूढ चेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान् निश्चितं ब्रूहि तन् मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

कृपा दोष पहिं नष्ट स्वभावा
पूछु धर्म में मन मूढ़ावा ।
निश्चित हित सो मुझे बतावो
शिष्य शरण तव मुझ समझावो ॥

८

न हि प्रपश्यामि ममाऽपनुद्याद्
यच्छोक मुच्छोषण मिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमाव सपत्न मृद्धम्
राज्यं सुराणा मपि चाऽधिपत्यम् ॥

यत, न उसे लखुं जोहि मिटावे
शोक जोहि मम गात्र सुखावे ।
निररिपु धनि महि राज मिलाई
प्रभुता देवों पर अपि पाई ॥

९ संजय उवाच ९

एवं उक्त्वा हृषीकेशम्
गुडाकेशः परंतप ! ।
"न योत्स्य" इति गोविंदम्
उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

कह संजय; तब हे भूपाला !
अस कहि हरिको पार्थ कृपाला ।
"मैं न करौं गोविन्द ! लड़ाई"
अस कहकर बस चुप होजाई ॥

१०

तं उवाच हृषीकेशः
प्रहसन् इव भारत ! ।
सेनयोर् उभयोर् मध्ये
विषीदन्तं इदं वचः ॥

कहे पार्थ से तब गोपाला
हँसत हँसत जनु भारतलाला ।
दोनउ सेनाके मध मांहीं
शोक करतको अस वचनांहीं ॥

११ श्री भगवान् उवाच ११

अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वम्
प्रज्ञा वादांश् च भाषसे ।
गताऽसून् अगताऽसूंश् च
नाऽनुशोचन्ति पंडिताः ॥

शोचहु तुम जो शोक न जोगा
अरु बोलहु जिमि पंडित लोगा ।
गये रहे वा प्राणों का ही
पंडित शोक करे कभि नाहीं ॥

१२

न त्वेवाऽहं जातु नाऽऽसम्
न त्वं नेमे जनाऽधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः
सर्वे वयं अतः परम् ॥

था न कभी भी मै अस नाहीं
थे न तुम न ये नृप अस नाहीं ।
नहिं हि कि आगे भी ना होऊं
इत उत्तर आपन सब कोऊ ॥

१३

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे
कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहाऽन्तर प्राप्तिर्
धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

देही को जिमि इहिं तनु मांहीं
बाल युवा बूढा पन आही ।
तिमि वह लहे शरीर हि आना
तासु न पावे मोह सुजाना ॥

१४

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय !
शीतोष्ण सुख दुःखदाः ।
आगमाऽपायिनोऽनित्यास्
तांस् तितिक्षस्व भारत ! ॥

तनु संबंध संग कौन्तेया !
शीत ऊष्ण जिमि सुख दुख देया ।
आवहिं जावहिं नश्वर एते
पार्थ ! धीर धरि सहहू ते ते ॥

१५

यं हि न व्यथयन्त्येते
पुरुषं पुरुषर्षभ ! ।
सम दुःख सुखं धीरम्
सो ऽमृतत्वाय कल्पते ॥

कारण ये करि दुःखित नाहीं
हे नर पुंगव ! जिस मनुजाहीं ।
जिहिं सुजान सुख दुःख समाना
योग्य मोक्ष लगि सो ही माना ॥

१६

नाऽसतो विद्यते भावो
नाऽभावो विद्यते सतः ।
उभयोर् अपि दृष्टोऽन्तस्
त्वनयोस् तत्व दर्शिभिः ॥

अनित देहका नहिं हो होना
नित देही का नाहिं न होना ।
इन दुइका अपि अन्तिम सारा
देखहिं तत्व निहारन हारा ॥

१७

अविनाशि तु तद् विद्धि
येन सर्वं इदं ततम् ।
विनाशं अव्ययस्याऽस्य
न कश् चित् कर्तु मर्हति ॥

नाश रहित पर इसको जानो
जो यह सब जग व्यापि रहानो ।
इस अविनाशी का नहिं कोई
करने नाश समर्थ हि होई ॥

१८

अन्तवन्त इमे देहा
नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य
तस्माद् युध्यस्व भारत! ॥

नाश वन्त ये देह बखाने
इसि शाश्वत देही के जाने ।
अविनाशी अतुलित यह देही
लड़ो पार्थ! तुम कारण एही ॥

१९

य एनं वेत्ति हन्तारम्
यश् चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तो न विजानीतो
नाऽयं हन्ति न हन्यते ॥

जो इहिं मारन हारा जाने
अरु जो मारि जाइ इहिं माने ।
वे दोनों कछु जानत नाहीं
यह न हने न हना ही जाही ॥

२०

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नाऽयं भूत्वा ऽभविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

ना कबि जन्मे मरि वा नाहीं
यह न हुवा न होइ पुनि नाहीं ।
यह शाश्वत अज नित्य पुराना
हनत देह को यह न नसाना ॥

२१

वेदाऽविनाशिनं नित्यम्
य एनं अजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ!
कं घातयति हन्ति कम् ॥

इहिं अविनाशि नित्य जो जाने
अरु अविकारि अजन्मा माने ।
हे अर्जुन! वह नर कैसे ही
किन मरवावहि किन मारे ही ॥

२२

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि
अन्यानि संयाति नवानि देही ॥

जैसे परितजि वसन पुराना
मानुष पहिने नूतन आना ।
तैसे परितजि देह पुराना
देही प्रविशे नव तनु आना ॥

२३

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि
नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो
न शोषयति मारुतः ॥

इसे शस्त्र नहिं काट सकेही
इसे अग्नि नहिं जला सकेही ।
जलसे यह न गलाया जाही
पवन पाहिं न सुखाया जाही ॥

२४

अच्छेद्योऽयं अदाह्योऽयम्
अक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुर्
अचलोऽयं सनातनः ॥

यह न कटे न जलाया जाही
यह न गले न सुखाया जाही ।
नित्य तथा सब व्यापी एही
निश्चल अटल सनातन देही ॥

२५

अव्यक्तोऽयं अचिन्त्योऽयम्
अविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्माद् एवं विदित्वैनम्
नानुशोचितुमर्हसि ॥

यह ना प्रगट न चिंतिहु जाई
अरु अविकारी यह कहलाई ।
तासु जानि इहिं इसी प्रकारा
उचित न होई शोक तुम्हारा ॥

२६

अथ चैनं नित्यजातम्
नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महा बाहो !
नैवं शोचितु मर्हसि ॥

अरु यदि इसे सदा जन्माना
अथवा सदा मरत अस माना ।
तो भी अर्जुन ! हे बड़बाहू !
शोक उचित नहिं अस तुम काहू ॥

२७

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्
ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्माद् अपरिहार्येऽर्थे
न त्वं शोचितु मर्हसि ॥

यत, मरि निश्चित जो जन्मावे
जन्मे निश्चित जो मरजावे ।
तासु जहाँ नहिं कछु छुटकारा
तहाँ उचित नहिं शोक तुम्हारा ॥

२८

अव्यक्ताऽऽदीनि भूतानि
व्यक्त मध्यानि भारत ! ।
अव्यक्त-निधनान्येव
तत्र का परिदेवना ? ॥

प्राणि आदि महँ गोचर नाहीं
दीसत अर्जुन ! जीवन मांहीं ।
मृत्यु परे पुनि गोचर नाहीं
तहँ विलाप कहु किमु करि जाही? ॥

२९

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्यवद् वदति तथैव चाऽन्यः !
आश्चर्यवच् चैन मन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

अद्भुत इव लखि देहि हिं कोई
अद्भुत इव अरु कहि इहिं कोई ।
अद्भुत इव अरु सुनि इहिं आना
लखि कहि सुनि पर कोइ न जाना ॥

३०

देही नित्यं अवध्योऽयम्
देहे सर्वस्य भारत ! ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि
न त्वं शोचितु मर्हसि ॥

देही नित यह हना न जाही
लखत आर्य सबके तनु मांही ।
तासु पार्थ किसि जीवहि ताहीं
करना शोक उचित तव नाहीं ॥

३१

स्वधर्मं अपि चाऽवेक्ष्य
न विकंपितु महंसि ।
धर्म्याद् धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्
क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

अपि स्वधर्म का करत बिचारा
नाहिं हिचकना योग्य तुम्हारा ।
धर्म विहित युधसे बढ़कारी
अन्य न क्षत्रिय लगि हितकारी ॥

३२

यदृच्छया चोपपन्नम्
स्वर्ग द्वारं अपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ!
लभन्ते युद्ध–मीदृशम् ॥

अपने आपहि चलकर आया
स्वर्ग द्वार जनु खुल्ला पाया ।
भाग्यवन्त जे क्षत्रिय होई
स्वर्गदायि अस युध लह सोई ॥

३३

अथ चेत् त्वं इमं धर्म्यम्
संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च
हित्वा पापं अवाप्स्यसि ॥

अरु यदि यह तुम धर्म प्रमाना
युद्ध न करहू पार्थ सुजाना! ।
तो स्वधर्म अरु कीर्ति गमाई
ऊपरसे पुनि पाप हिं पाई ॥

३४

अकीर्तिं चाऽपि भूतानि
कथयिष्यन्ति ते ऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाऽकीर्तिर्
मरणाद् अति रिच्यते ॥

सकल लोक अपकीर्ति तुम्हारी
संतत कहा करेंगे न्यारी ।
मानी को अपकीर्ति जनावे
मरण हु से अपि अधिक दुखावे ॥

३५

भयाद् रणाद् उपरतम्
मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो
भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥

डरकर तुमने रण को त्यागा
महारथी अस मानहिं आगा ।
थे बहुमानित तुम जिनके ही
होवहु लघु मत महँ तिनके ही ॥

३६

अवाच्यं–वादांश्च बहून्
वदिष्यन्ति तवाऽहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यम्
ततो दुःखतरं नु किम् ॥

योग्य न कहने अस बहु बोलीं
मारा करहीं तव रिपु टोलीं ।
करहीं तव बल की निन्दाहीं
इस से बढ़कर दुख किमु आही ॥

३७

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय !
युद्धाय कृत निश्चयः ॥

मारि गये तो स्वर्ग लहोगे
जीतहु तो महिराज करोगे ।
उठो पार्थ ! तुम कारण एही
युद्ध करन् के निश्चय से ही ॥

३८

सुख–दुःखे समे कृत्वा
लाभाऽलाभौ जयाऽजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व
नैवं पापं अवाप्स्यसि ॥

सुख अरु दुःख लाभ अरु हाना
जय अरु अपजय मानि समाना ।
तब हे पार्थ ! जुड़ो रण मांहीं
पाप तुम्हे अस लागहि नाहीं ॥

३९

एषा तेऽभिहिता सांख्ये
बुद्धिर् योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ !
कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥

ज्ञान सांख्य यह तुम्हें बखाना ।
पर अब सुनो योग का ज्ञाना ।
हे अर्जुन ! जो ज्ञान मिलाई
कर्म बंधसे छूटहु जाई ॥

४०

नेहाऽभिक्रम नाशोऽस्ति
प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्प मप्यस्य धर्मस्य
त्रायते महतो भयात् ॥

कर्मारंभ का न इह नाशा
विघ्न न होई कबहु जरासा ।
योग धर्म का तनिक हि साधन
भारी भयसे करि वह पालन ॥

४१

व्यवसाया ऽत्मिका बुद्धिर्
एकेह कुरुनन्दन! ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश् च
बुद्धयो ऽव्यवसायिनाम् ॥

निश्चय कारिणि बुद्धि हि जोई
अर्जुन! इसमें एक हि होई ।
बहुत भेद युत अमित प्रकारा
बुद्धि अनिश्चित केरि अपारा ॥

४२

यां इमां पुष्पितां वाचम्
प्रवदन्त्य विपश्चितः ।
वेद वाद रताः पार्थ!
ना ऽन्यद् अस्तीति वादिनः ॥

जो यह अगली फूली बानी
कहहिं कामना युत अज्ञानी ।
वैदिक कर्म मांहिं रमाना
इससे अन्य न कछुक कहाना ॥

४३

कामाऽऽत्मानः स्वर्गपरा
"जन्म कर्म फल प्रदाम् ।
क्रिया विशेष बहुलाम्
भोगैश्वर्य गतिं प्रति" ॥

मग्न काम महँ स्वर्ग चहाई
कहते "जन्म कर्म फलदाई ।
वैदिक क्रिया भेद विपुलाई
वैभव भोगन् पहँ ले जाई" ॥

४४

भोगैश्वर्य प्रसक्तानाम्
तया ऽपहृत चेतसाम् ।
व्यवसायाऽत्मिका बुद्धिः
समाधौ न विधीयते ॥

वैभव भोगन् महँ लिपटाये
उस बाणी से मन हरवाये ।
निश्चय कारिणि बुद्धि हि जोई
अस लोगन् की स्थिर ना होई ॥

४५

त्रैगुण्य-विषया वेदा
निस्त्रैगुण्यो भवार्ऽर्जुन! ।
निर्द्वन्द्वो नित्य-सत्वस्थो
निर्योग-क्षेम आत्मवान् ॥

वैदिक कर्म त्रिगुण मय सारे
पार्थ! होउ त्रिगुणों से न्यारे ।
रहि सत् पन में द्वन्द्व तजोहू
जो डु न राखु न वशी बनोहू ॥

४६

यावान् अर्थ उदपाने
सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु
ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

होइ हेतु नरको जितना ही
जल परिपूर्ण जलाशय मांहीं ।
उतना सब वेदोंमहँ माना
उसको जिसने ब्रह्महि जाना ॥

४७

कर्मण्येवा ऽधिकारस् ते
मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म फल हेतुर् भूर्
मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि ॥

कर्म हि मांहीं तव अधिकारा
नाहिं फलोमें कभी तुम्हारा ।
रखहु न हेतु कर्म फल माहीं
हठ ना करहु अकर्म हि मांहीं ॥

४८

योगस्थः कुरु कर्माणि
संगं त्यक्त्वा धनंजय! ।
सिद्ध्य-सिद्ध्योः समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते ॥

रही योगमें कर्म करोहू
अर्जुन! अरु आसक्ति तजोहू ।
मानहु सिद्धि असिद्धि समाना
समता ही को योग बखाना ॥

४९

दूरेण ह्यवरं कर्म
बुद्धियोगाद् धनंजय!
बुद्धौ शरण मन्विच्छ
कृपणाः फलहेतवः ॥

कर्म सकाम अधम अति आही
समता बुद्धि योग के पाहीं ।
बुद्धि योग महँ चहु शरणाई
फल इच्छुक ते कृपण कहाई ॥

५०

बुद्धि-युक्तो जहातीह
उभे सुकृत-दुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व
योगः कर्मसु कौशलम् ॥

समता बुद्धि योग युत, जोई
त्यागत पाप पुण्य इह दोई ।
तासु योग हित करु यतनां हीं
योग= कुशलता कर्मन् मांहीं ॥

५१

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि
फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्म बंध–विनिर्मुक्ताः
पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

समता बुद्धियोग को ठाँनी
कर्म जनित फल त्यागे ज्ञानी ।
जन्म बंध से करि छुटकारा
जाय ब्रह्म पद अति सुखियारा ॥

५२

यदा ते मोह कलिलम्
बुद्धिर् व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदम्
श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

मोह रूपि जब कीचड़ भारी
तर जावेगी बुद्धि तुम्हारी !
होवहि तब वैराग्य तुम्हें ही
सुने सुनन् के विषयन् में ही ॥

५३

श्रुति विप्रतिपन्ना ते
यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्
तदा योगं अवाप्स्यसि ॥

कर्म जन्य फल श्रवणा पाहीं
चकित बुद्धि तव जब थम जाही ।
इक चित्ती स्थित–प्रज्ञ हि होई
पावहु बुद्धियोग तब सोई ॥

५४ **अर्जुन उवाच** ५४

स्थित–प्रज्ञस्य का भाषा ?
समाधिस्थस्य केशव ! ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत ?
किं आसीत व्रजेत किम् ? ॥

पूछि पार्थ; हरि ! लक्षण के ही ?
इकचित्ती स्थितप्रज्ञ हि के ही ?
अचल–बुद्धि अरु बोले कैसे ?
कैसे बैठे चाले कैसे ? ॥

५५ **श्री भगवान् उवाच** ५५

प्रजहाति यदा कामान्
सर्वान् पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः
स्थित–प्रज्ञस् तदोच्यते ॥

कह भगवान; पार्थ ! जब जोई
मन वांछित सब त्यागत होई ।
संतोषी निजमहँ निज पाहीं
तब सो ही स्थित–प्रज्ञ कहाई ॥

५६

दुःखेष्वनुद्विग्न–मनाः
सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीत राग भय क्रोधः
स्थितधीर् मुनिरुच्यते ॥

मन उदास नहिं दुख में होई
आस रखे नहिं सुखमे कोई ।
प्रीति भीति अरु क्रोध तजाना
स्थित–प्रज्ञ मुनि लक्षण जाना ॥

५७

यः सर्वत्राऽनभिस्नेहस्
तत् तत् प्राप्य शुभाऽशुभम् ।
नाऽभिनन्दति न द्वेष्टि
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जो न करे ममता कछु मांहीं
प्रिय लहि अभिनन्दन कहि नाहीं ।
लहि अप्रिय कटु बोलत नाहीं
तब सो ही स्थित–प्रज्ञ कहाही ॥

५८

यदा संहरते चाऽयम्
कूर्मो ऽ गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

कमठ अंग सब ओरसुं जैसे
बैठे जब सकुचाके तैसे ।
इंद्रिन् को सब विषयन् पाहीं
तब सो ही स्थित–प्रज्ञ कहाही ॥

५९

विषया विनिवर्तन्ते
निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य
परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

विषय मनुज के लौटहि जाहीं
जब वह उनको भोगत नाहीं ।
* रस भी इसका लौटहि जाई
लखि इसकी अति रस रहिताई ॥

६०

यततो ह्यपि कौन्तेय!
पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि
हरन्ति प्रसभं मनः ॥

कारण, यद्यपि यतन कराना
पार्थ! होइ नर बुद्धि निधाना ।
तदपि इंद्रियाँ क्षोभन कारी
बल पूर्वक मन हरतहिं सारी ॥

*रस बिनु, रसभी इसका जाई । जब वह ब्रह्म दर्श करि पाई

६१

तानि सर्वाणि संयम्य
युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

उन सबका करि संयम जोई
बैठे योगी मम रत होई ।
यत, इंद्रिन् जिसके वश मांहैं
नर सो ही स्थित-प्रज्ञ कहाई ॥

६२

ध्यायतो विषयान् पुंसः
संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः
कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥

मानुष जब विषयन को ध्यावे
संग हि उनमें तब हो जावे ।
संग कामना को उपजावे
विफल कामना क्रोध करावे ॥

६३

क्रोधाद् भवति संमोहः
संमोहात् स्मृति-विभ्रमः ।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धिनाशो
बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

तथा क्रोध अविवेक बढावे
अरु अविवेक हि स्मृति भरमावे ।
स्मृति के भ्रमसे बुद्धि नशावे
बुद्धि नाश से नाश हिं पावे ॥

६४

राग द्वेष-वियुक्तैस् तु
विषयान् इन्द्रियैश् चरन् ।
आत्मवश्यैर् विधेयाऽऽत्मा
प्रसादं अधि-गच्छति ॥

किन्तु प्रीति अरु द्वेष विहीना
कीनि इंद्रियाँ निज आधीना
अस इंद्रिन से विषय भुगावे
संयमि मन प्रसन्नता पावे ॥

६५

प्रसादे सर्व-दुःखानाम्
हानिर् अस्योप जायते ।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु
बुद्धिः पर्यव-तिष्ठते ॥

जब मन की प्रसन्नता पावे
तब इस के सब दुःख नशावे ।
यत, प्रसन्न मन हो जिस काही
नर सो ही स्थित-प्रज्ञ कहा ही ॥

६६

नाऽस्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य
न चा ऽयुक्तस्य भावना ।
न चाऽभावयतः शान्तिर्
अशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

पर प्रसन्न मन युत जो नाहीं
बुद्धि न उसे भावना नाहीं ।
बिना भावना शान्ति न पाई
शान्ति बिना सुख कहँसे आई ॥

६७

इन्द्रियाणां हि चरताम्
यन् मनोऽनु-विधीयते ।
तद् अस्य हरति प्रज्ञाम्
वायुर् नावं इवाऽम्भसि ॥

इंद्रिन् बर्तत विषयन् मांहीं
तब जो मन अनुसरही ताहीं ।
वह मन उसकी बुद्धि बहाई
पवन नाव को जिमि जलमांई ॥

६८

तस्माद् यस्य महाबाहो!
निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

इस कारण जिसकी बड़ बाहू!
निग्रह करि गइ सब ओराँहूँ ।
सकल इंद्रियाँ विषयन् पाहीं
नर सो ही स्थितप्रज्ञ कहाही ॥

६९

या निशा सर्व भूतानाम्
तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि
सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

विषय विराग रात जग मानी
उसमें सजग हि संयमि ज्ञानी ।
विषय राग महँ जागत प्रानी
सोइ रात माने मुनि ज्ञानी ॥

७०

आपूर्यमाण मचल प्रतिष्ठम्
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्ति माप्नोति न काम कामी ॥

भरत रहे पुनि अचल हि सीमा
प्रविशि नदी जल जिमि जलधीमां ।
प्रविशैं तिमि जिसमें सब कामा
लहे शान्ति सो नाहिं सकामा

७१

विहाय कामान् यः सर्वान्
पुमांश् चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः
स शान्तिं अधिगच्छति ॥

सकल कामना तजकर जोई
नर निरिच्छ हो वर्तत होई ।
ममता अहंकार बिनु जोई
शान्ति लहे स्थित–प्रज्ञ हि सोई ॥

७२

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ!
नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यां अन्तकालेऽपि
ब्रह्म–निर्वाण मृच्छति ॥

दोहा–पार्थ! ब्रह्म निष्ठा यही,
यह लहि मोह न पाय ।
अन्तकाल इसमें रहे,
तदपि मोक्ष को जाय ॥

ॐ तत् सत् इति

श्रीमद् भगवद् गीतासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म–विद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णाऽर्जुन–सं वा दे
सांख्य–योगो नाम
द्वि ती योऽध्या यः ॥२॥

श्री कृष्णाऽर्पण मस्तु

हरिः ॐ तत् सत् इति

श्री भगवान् कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मक ज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
सांख्य योग अस नाम कहाया
गीता महँ दुसरा अध्याया ।
करि हिन्दी गीता चौपाई
श्रीकृष्णार्पण धन्ना गाई ॥२॥

अध्याय तीसरा

१ **अर्जुन उवाच** १

ज्यायसी चेत् कर्मणस् ते
मता बुद्धिर् जनार्दन! ।
तत् किं कर्मणि घोरे माम्
नियोजयसि केशव? ॥

कह अर्जुन, यदि तुम भगवाना
ज्ञान कर्म से बढ़कर माना ।
तो अस घोर कर्म के मांईं
प्रेरहु मुझको क्यों यदुराई? ॥

२

व्यामिश्रेणेव वाक्येन
बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तद् एकं वद निश्चित्य
येन श्रेयो ऽहमाप्नुयाम् ॥

मिले हुये से वचनां पाहीं
करहु मोह सा मम मति मांहीं ।
तासु, एक कहु निश्चित् सोई
जिससे मेरा श्रेयस होई ॥

३ **श्री भगवान् उवाच** ३

लोके ऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा
पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ! ।
ज्ञान योगेन सांख्यानाम्
कर्म योगेन योगिनाम् ॥

कह हरि, निष्ठा इस जग मांहीं
दुइ विध कहि मैं पार्थ! पुरा ही ।
ज्ञान योग से संन्यासिन की
कर्म योग से योगीजन की ॥

४

न कर्मणां अनारंभात्
नैष्कर्म्यं पुरुषो ऽश्नुते ।
न च संन्यसनाद् एव
सिद्धिं समधि–गच्छति ॥

कर्मारंभ न करने से ही
विगत कर्मता नर न लहे ही ।
कर्म हि केवल तजने से ही
मनुज सिद्धि को पा न सकेही ॥

५

न हि कश्चित् क्षणमपि
जातु तिष्ठत्य कर्म कृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म
सर्वः प्रकृतिजैर् गुणैः ॥

कारण, क्षण भर भी कभि कोई
कर्म करे बिनु रहे, न होई ।
सबहि अवश अस प्राणिन् पाहीं
प्रकृति–जनित–गुण कर्म कराहीं ॥

६

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य
य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इंन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा
मिथ्याऽऽचारः स उच्यते ॥

रोकि कर्म के इंद्रिन जोई
मनसे विषय तु सुमिरत होई ।
मूढ़ बुद्धि अस मानुष जोई
मिथ्याचारि कहावत सोई ॥

७

यस् त्विन्द्रियाणि मनसा
नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन! ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम्
असक्तः स विशिष्यते ॥

रोकहि ज्ञानेंद्रिन मन से जो
करे कर्म के इंद्रिन से जो ।
कर्मयोग तजि संग हिं जोई
अर्जुन! श्रेष्ठ कहावत सोई ॥

८

नियतं कुरु कर्म त्वम्
कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीर–यात्राऽपि च ते
न प्रसिद्धयेद् अकर्मणः ॥

करु कर्तव्य कर्म निजका ही
कम महान् अकर्म हि पाहीं ।
अरु तव तनु का अपि चरितार्था
सधे अकर्म पाहिं नहिं पार्था! ॥

९

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र
लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय!
मुक्त–संगः समाचर ॥

यज्ञ भक्ति कर्मन् से आना
कर्म जगत् के बंध कराना ।
पार्थ! यज्ञ हित कर्म करोहू
तिन महँ की आसक्ति तजोहू ॥

१०

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा
पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वम्
एष वोऽस्त्विष्ट काम धुक् ॥

प्रजा यज्ञ के साथ सृजाई
पहले ब्रह्मा तब समुझाई ।
यजन भजन से फुलौ फलौ ऊ
काम धेनु यह तुम लगि होऊ ॥

११

देवान् भावयताऽनेन
ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः
श्रेयः परं अवाप्स्यथ ॥

करो तृप्त देवन्को यासे
करे तृप्त वे तुमको तासे ।
एकमेक को तृप्त कराना
तुम सब लहो परम कल्याना ॥

१२

इष्टान् भोगान् हि वो देवा
दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर् दत्तान् अप्रदायैभ्यो
यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥

इच्छित भोग तुम्हें सुर देई
तृप्ति यज्ञ से जब पा लेई ।
उनके दिये उन्हें बिनु देई
भोगहिं यदि जे चोर हि तेई ॥

१३

यज्ञ–शिष्टाऽशिनः सन्तो
मुच्यन्ते सर्व–किल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा
ये पचन्त्यात्म–कारणात् ॥

यज्ञ किये पर सज्जन खाई
सब पापों से छूट हि जाई ।
पर वे पापी पाप हिं खाई
जे निजही के हेतु पकाई ॥

१४

अन्नाद् भवन्ति भूतानि
पर्जन्याद् अन्न–संभवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो
यज्ञः कर्म–समुद्भवः ॥

प्राणिन् अन्न पाहिं निपजाई
वर्षा पाहिं अन्न उपजाई ।
वर्षा होइ यज्ञ के पाहीं
होवहि यज्ञ कर्म के पाहीं ॥

१५

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि
ब्रह्मा–ऽक्षर–समुद्भवम् ।
तस्मात् सर्व–गतं ब्रह्म
नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

जानहु कर्म ब्रह्म से होई
होइ ब्रह्म अक्षर से सोई ।
अक्षर ब्रह्म व्यापि सब जोई
तासु यज्ञ महँ रह नित सोई ॥

१६

एवं प्रवर्तितं चक्रम्
नाऽनुवर्तयतीह यः ।
अघायुर् इंद्रियाऽऽरामो
मोघं पार्थ! स जीवति ॥

ऐसे चक्र चला यह जोंई
जगमें इहिं न चलावत होई ।
पाप जीवि इंद्रिय सुख चाही
अर्जुन! वह नर जीव वृथा ही ॥

१७

यस्त्वात्म रति रेव स्यात्
आत्म तृप्तश् च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्
तस्य कार्यं न विद्यते ॥

पर जो आत्म हि में रममाना
आत्म हि में नर तृप्ति लहाना ।
आत्म हि में संतुष्ट सदा ही
कर्म अवश्य उसे कछु नाहीं ॥

१८

नैव तस्य कृतेनाऽर्थो
नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्व–भूतेषु
कश्चिद् अर्थ–व्यपाश्रयः ॥

कछुहि करन् अ करन् महँ कोई
आशय उस का इह नहिं होई ।
अरु उसका किसि प्राणिन् मांहीं
आशय कछु अवलंबित नाहीं ॥

१९

तस्माद् असक्तः सततम् ।
कार्यं कर्म समाचर
असक्तो ह्याचरन् कर्म
परं आप्नोति पूरुषः ॥

तासु बिना आसक्ति सदा ही
करु कर्तव्य कर्म निजका ही ।
किमु कि, संग तजि कर्म कराना
मानव पावै श्रीभगवाना ॥

२०

कर्मणैव हि संसिद्धिम्
आस्थिता जनकादयः ।
लोक–संग्रहमेवा ऽ पि
संपश्यन् कर्तु मर्हसि ॥

कारण, कर्म हि से सुखदायी
जनक आदि शुभ सिद्धि हिं पाई ।
केवल जन संग्रह अपि देखे
करना कर्म उचित तव लेखे ॥

२१

यद् यद् आचरति श्रेष्ठस्
तत् तद् एवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते
लोकस्तद् अनुवर्तते ॥

यत, करि श्रेष्ठ पुरुष जो जोई
करत इतर जन अपि सो सोई ।
अरु वह माने जिसे प्रमाना
जन अपि वैसे ही बर्ताना ॥

२२

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यम्
त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नाऽनवाप्तं अवाप्तव्यम्
वर्त एव च कर्मणि ॥

मुझे अवश्य कर्म कछु नाहीं
अर्जुन! तीनुं लोक के मांहीं ।
मिला न सो नहिं मुझे मिलाना
बर्तहुं तदपि कर्म महँ नाना ॥

२३

यदि ह्यहं न वर्तेयम्
जातु कर्मण्यतंद्रितः ।
मम वर्त्मा ऽनु–वर्तन्ते
मनुष्याः पार्थ! सर्वशः ॥

कारण यदि मैं बर्तहुँ नाहीं
कदि बिनु आलस कर्मन् मांहीं ।
तो मम पथ ही के अनुसारा
अर्जुन! बर्तहिं जन अपि सारा ॥

२४

उत्सीदेयुर् इमे लोका
न कुर्यां कर्म चेद् अहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्याम्
उपहन्यां इमाः प्रजाः ॥

ये सब लोक नाश को जाहीं
यदि मैं कर्म करहुँ कछु नाहीं ।
होवहुँ अरु मैं संकर कारी
जनु इस सकल प्रजा को मारी ॥

२५

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो
यथा कुर्वन्ति भारत! ।
कुर्याद् विद्वांस् तथाऽसक्तश्
चिकीर्षुर् लोक–संग्रहम् ॥

हो आसक्त कर्म के मांहीं
करत कर्म अज्ञानि यथा ही ।
अनासक्त हो ज्ञानि तथा ही
करे कर्म जन–संग्रह चाही ॥

२६

न बुद्धि–भेदं जनयेद्
अज्ञानां कर्म–संगिनाम् ।
जोषयेत् सर्व कर्माणि
विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥

बुद्धि भेद ना जनै तिन्हों का
कर्म संगि अज्ञानि जनोंका ।
सकल कर्म करवावे ज्ञानी
करे आप भी योग हिं ठानी ॥

२७

प्रकृतेः क्रियमाणानि
गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार–विमूढात्मा
कर्ताऽहं इति मन्यते ॥

प्रकृति जनित गुण तिहुँ के पाहीं
सबसे कर्म कराये जाहीं ।
अहंकार से मोहित जोई
मै कर्ता अस मानत सोई ॥

२८

तत्त्ववित् तु महाबाहो!
गुण–कर्म–विभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त
इति मत्वा न सज्जते ॥

गुण कर्मोंका तत्त्व तु जानी
तिनसे निजको अलग हि मानी ।
गुण–इंद्रिन गुण–विषयन मांहीं
बर्तत मानिय चिपकत नाहीं ॥

२९

प्रकृतेर् गुण–संमूढाः
सज्जन्ते गुण–कर्मसु ।
तान् अकृत्स्नविदो मंदान्
कृत्स्नविन् न विचालयेत् ॥

प्रकृति–गुणोंसे मोहित जेही
गुण कर्मों महँ चिपकत तेही ।
मन्द बुद्धि अस अपुरे ज्ञानी
तिन्ह न भुलावे पूरा ज्ञानी ॥

३०

मयि सर्वाणि कर्माणि
सन्यस्याऽध्यात्म–चेतसा ।
निराशीर् निर्ममा भूत्वा
युद्ध्यस्व विगत–ज्वरः ॥

सकल कर्म तुम मेरे मांहीं
त्यागहु आत्मनिष्ठ मति पाहीं ।
आशा ममता विरहित होऊ
तजि संताप हिं युद्ध करोऊ ॥

३१

ये मे मतं इदं नित्यम्
अनु-तिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तो ऽ नसूयन्तो
मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥

मेरे इस मत को नित जोई
अनुसरि मानव बर्तत होई ।
दोषदृष्टि बिनु श्रद्धा वाना
कर्म बंध से वे भि छुटाना ॥

३२

ये त्वेतद् अभ्यसूयन्तो
नाऽनुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञान - विमूढांस् तान्
विद्धि नष्टान् अचेतसः ॥

पर जे इसको दोष लगाहीं
मेरे मतको अनुसरि नाहीं ।
सबहि ज्ञान महँ मूढ़ अजाना
जानहु उनको नष्ट समाना ॥

३३

सदृशं चेष्टते स्वस्याः
प्रकृतेर् ज्ञानवान् अपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि
निग्रहः किं करिष्यति ? ॥

पूर्व जन्म निज कृति अनुसारा
ज्ञानी अपि करहीं व्यवहारा ।
निज स्वभाव पर प्राणिन जाहीं
तासु तहां निग्रह करि का ही ? ॥

३४

इन्द्रियस्येन्द्रियस्या ऽ र्थे
राग - द्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर् न वशमा गच्छेत्
तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥

प्रति इंद्रिय के विषयन् में ही
प्रीति द्वेष ये नीक बसे ही ।
तासु न जावे वश इनकेरे
ये मुमुक्षु के पंथ लुटेरे ॥

३५

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः
परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः
परधर्मो भयावहः ॥

कम गुण अपि स्वधर्म अधिकाही
सु आचरित पर धर्महि पाहीं ।
मरण स्वधर्म हि में हितकारी
पर, परधर्म होइ भयकारी ॥

३६ अर्जुन उवाच ३६

अथ केन प्रयुक्तो ऽयम्
पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन् अपि वार्ष्णेय!
बलाद् इव नियोजितः ॥

पूछि पार्थ; तो किसका प्रेरा
यह नर करत पाप बहुतेरा ।
यदपि न इच्छहि हे यदुराई!
जनु बल पूर्वक कोउ कराई ॥

३७ श्री भगवान् उवाच ३७

काम एष क्रोध एष
रजो गुण – समुद्भवः ।
महा ऽशनो महापाप्मा
विद्ध्येनं इह वैरिणम् ॥

कह हरि; काम क्रोध यह होई
राजस गुण पहिं उपजत जोई ।
अति खाऊ अति पापी एही
जानहु जग में शत्रु इसे ही ॥

३८

धूमेना ऽऽ व्रियते वह्निर्
यथा ऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेना ऽऽवृतो गर्भस्
तथा तेनेद – मावृतम् ॥

अग्नि धूम से जिमि छिप जाई
दर्पण मल से जिमि ढक जाई ।
लिपटे गर्भ झिल्लि से जैसे
ढके ज्ञान को काम हि तैसे ॥

३९

आवृतं ज्ञान – मेतेन
ज्ञानिनो नित्य – वैरिणा ।
काम – रूपेण कौन्तेय
दुष्पूरेणा ऽनलेन च ॥

छिपा दिया है ज्ञान इसीने
ज्ञानी के इस नित बैरीने ।
काम रूपि यह अग्नि महाना
तृप्त न होवे पार्थ सुजाना! ॥

४०

इंद्रियाणि. मनो बुद्धिर्
अस्या ऽधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर् वि मो ह य त्ये ष
ज्ञान – मावृत्य देहिनम् ॥

इंद्रिन अरु मन बुद्धि तथा ही
गेह काम के ये कहलाही ।
करि मोहित यह इन के द्वारा
नरको, ज्ञान मिटाकर सारा ॥

४१

तस्मात् त्वं इंद्रियाण्यादौ
नियम्य भरतर्षभ ! ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनम्
ज्ञान – विज्ञान – नाशनम् ॥

तासु प्रथम तुम इंद्रिन काही
अर्जुन! नियमन करि निज मांही ।
जीतहु इसको अति पापी को
सब विज्ञान ज्ञान नाशी को ॥

४२

इंद्रियाणि पराण्याहुर्
इंद्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्
यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

इंद्रिन तनुसे श्रेष्ठ कहाहीं
मन इंद्रिन से बढ़कर आही ।
होवहि बुद्धि परे मन से ही
काम अतर्क्य तु बुद्धि परे ही ॥

४३

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा
संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो।
काम – रूपं दुरासदम् ॥

दोहा—परे बुद्धि से जानि अस,
निजको निजमहँ आनि ।
अर्जुन! जीतहु काम को,
दुराधर्ष रिपु मानि ॥

हरिः ॐ तत् सत् इति

श्रीमद् भगवद् गीतासु
उपनिषत्सु
ब्रह्म – विद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन – संवादे
कर्म – योगो नाम
तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

श्री भगवान् कृष्ण की गाईं
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मक ज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
कर्म योग अस नाम कहाया
गीता महँ तिसरा अध्याया ।
करि हिन्दी गीता चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्ना गाई ॥३॥

श्री कृष्णार्पण मस्तु

अध्याय चौथा

श्री भगवान् उवाच

१
इमं विवस्वते योगम्
प्रोक्तवान् अहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह
मनुर् इक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

१
कह हरि; विवस्वान् को मैं ही
कहा योग यह फल नित जेही ।
विवस्वान् मनु को समझावा
मनु इक्ष्वाकु से हि बतलावा ॥

२
एवं परंपरा-प्राप्तम्
इमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता
योगो नष्टः परंतप! ॥

२
चला इसी क्रम से यह जोई
इसे राजऋषि जानत होई ।
बीत गया अब काल महाना
तासु पार्थ! यह योग लुकाना ॥

३
स एवाऽयं मया तेऽद्य
योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति
रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

३
सोहि तुम्हें मैं आज बखाना
अर्जुन! यह जो योग पुराना ।
तुम हो मेरे भक्त सखा ही
अरु रहस्य यह उत्तम आही ॥

अर्जुन उवाच

४
अपरं भवतो जन्म
परं जन्म विवस्वतः ।
कथं एतद् विजानीयाम्
त्वं आदौ प्रोक्तवान् इति ॥

४
कह अर्जुन; तव जन्म नवीना
विवस्वान् का अति प्राचीना ।
जानौं किमु यह मैं भगवाना
तुमहि आदि में योग बखाना ॥

श्री भगवान् उवाच

५
बहूनि मे व्यतीतानि
जन्मानि तव चार्जुन! ।
तान्यहं वेद सर्वाणि
न त्वं वेत्थ परंतप! ॥

५
कह भगवान्; जन्म बहु मेरे
बीते अरु तव पार्थ! घनेरे ।
जानहुं मैं उन सब जन्मों को
तुम ना जानो पार्थ! उन्होंको ॥

६

अजोऽपि सन् नव्ययाऽऽत्मा
भूतानां ईश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वां अधिष्ठाय
संभवाम्यात्म – मायया ॥

अपि अविनाशि अजन्मा होऊं
अपि अग जग का ईश्वर होऊं ।
रहि निज तदपि स्वभाव हि मांहीं
जन्म लेउं निज माया पाहीं ॥

७

यदा यदा हि धर्मस्य
ग्लानिर् भवति भारत!
अभ्युत्थानं अधर्मस्य
तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

कारण, जब जब धर्महि मांहीं
भारत! होइ ग्लानि जग मांहीं ।
अरु अधर्म का होइ उठाऊ
तब तब निजको मैं जन्माऊं ॥

८

परित्राणाय साधूनाम्
विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म – संस्थापना ऽर्थाय
संभवामि युगे युगे ॥

रक्षण करने साधु जनों का
करन् नाश दुष्कर्म करों का ।
धर्म स्थापना करने नीका
जन्म लेउं युग युग महँ ठीका ॥

९

जन्म कर्म च मे दिव्यम्
एवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर् जन्म
नैति मां एति सोऽर्जुन ॥

दिव्य जन्म मम अरु कर्मा हीं
जानहि अस जो तत्त्वतया ही ।
त्यागि देह पुनि जन्म न पाई
हे अर्जुन! वह मुझ पहँ आई ॥

१०

वीत–राग–भय–क्रोधा
मन्मया मां उपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञान–तपसा
पूता मद्भाव मागताः ॥

प्रीति भीति अरु क्रोध विहीना
रत मुझ में मम आश्रय कीना ।
ज्ञान रूपि तपसे बहुतेरे
शुचि हो मिले स्वरूप हिं मेरे ॥

११

ये यथा मां प्रपद्यन्ते
तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानु – वर्तन्ते
मनुष्याः पार्थ! सर्वशः ॥

भजे मुझे जे जेहि प्रकारा
पाउं उन्हें मैं उसि अनुसारा ।
मम पथ महँ जन आवत सारा
भलहिं भजे वे किसी प्रकारा ॥

१२

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिम्
यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके
सिद्धिर् भवति कर्मजा ॥

धरि इच्छा इह कर्म फलों की
करतहिं पूजा विविध सुरों की ।
यत, इह मृत्यु लोक के मांई
तुरत कर्म के फल जन पाई ॥

१३

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्
गुण – कर्म – विभागशः ।
तस्य कर्तारमपि माम्
विद्धय – कर्तार – मव्ययम् ॥

जग महँ सृजे वर्ण मैं चारा
गुण अरु कर्म भेद अनुसारा ।
यद्यपि मैं हूं उनका कर्ता
जानु मुझे अविकारि अकर्ता ॥

१४

न. मां कर्माणि लिम्पन्ति
न मे कर्म–फले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति
कर्मभिर् न स बध्यते ॥

कर्म मुझे कभि लिपटत नाहीं
आस न मुझे कर्म फल मांहीं ।
जानहि अस मुझको नर जोई
बँधे कर्म से कभि नहिं सोई ॥

१५

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म
पूर्वैर् अपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्
पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥

अस हि जानकर कर्महिं कीना
मोक्ष चहाना अपि प्राचीना ।
करो कर्म हीं तुम भी तासे
कीन्हें पूर्वज परंपरा से ॥

१६

किं कर्म किं अकर्मेति
कवयो ऽ प्यत्र मोहिताः ।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि
यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

किम अकर्म किम कर्म तथाही
पंडित अपि तहँ मोहित आही ।
कर्म अकर्म तुम्हें कहुं सोई
बचहु अशुभ से जानिय जोई ॥

१७

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम्
बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश् च बोद्धव्यम्
गहना कर्मणो गतिः ॥

यत, नित तत्त्व कर्म का जाने
तस विपरीत कर्म पहचाने ।
जाने अरु अकर्म का सोई
कर्मन् की गति गहरी होई ॥

१८

कर्मण्य—कर्म यः पश्येद्
अकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु
स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

लखि जो तनुसे कर्म अकर्मा
हठ अकर्म महँ लखि जो कर्मा ।
जगमें बुद्धिमान् वहि जाना
वहि योगी सब कर्म कराना ॥

१९

यस्य सर्वे समारंभाः
काम — संकल्प — वर्जिताः ।
ज्ञाना ऽ ग्नि — दग्धकर्माणम्
तं आहुः पंडितं बुधाः ॥

हों सब कर्मारंभ हि जाके
फल इच्छा संकल्प बिना के ।
ज्ञान अग्नि से दहे कर्मपन
पंडित उसको कहते बुध जन ॥

२०

त्यक्त्वा कर्मफलाऽऽसंगम्
नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभि — प्रवृत्तो ऽ पि
नैव किंचित् करोति सः ॥

तजि आसक्ति कर्म फल मांहीं
सदा तुष्ट अवलंबित नाहीं ।
कर्म मांहिं अपि लगा रहेही
तो भी वह कछु नाहिं करेही ॥

२१

निराशीर् यतचित्ताऽऽत्मा
त्यक्त – सर्व – परिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म
कुर्वन् नाऽऽप्नोति किल्बिषम् ॥

आस रहित चित वश में कीना
अरु सब संग्रह जो तज दीना ।
केवल तनुसे कर्म कराना
सो संसार बंध नहिं पाना ॥

२२

यदृच्छा – लाभ – संतुष्टो
द्वन्द्वाऽतीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च
कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥

सहज मिले में तोष सदा ही
परे द्वन्द्व से मत्सर नाहीं ।
मानहि सिद्धि असिद्धि समाना
करके भी वह नाहिं बँधाना ॥

२३

गत–संगस्य मुक्तस्य
ज्ञानाऽवस्थित–चेतसः ।
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म
समग्रं प्रविलीयते ॥

संग रहित फल मुक्त रहाना
ज्ञान मांहिं मन अचल रखाना ।
यजन भजन हित कर्म कराना
उसके कर्म सफल विलयाना ॥

२४

ब्रह्माऽर्पणं ब्रह्म हविर्
ब्रह्माऽग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्
ब्रह्म – कर्म – समाधिना ॥

अर्पि ब्रह्म को, हविधन ब्रह्म,
ब्रह्म अग्नि महँ, होमे ब्रह्म ।
ब्रह्म हि को वह योगी जाई
जासु ब्रह्म महँ कर्म समाई ॥

२५

दैवं एवाऽपरे यज्ञम्
योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञम्
यज्ञेनैवोप – जुह्वति ॥

इंद्र आदि देवन् हित नाना
यज्ञ उपासत योगिन् आना ।
ब्रह्म अग्नि महँ जीवहिं कोई
ज्ञान हि से जनु होमत होई ॥

२६

श्रोत्रा ऽऽ दीनीन्द्रियाण्यन्ये
संयमा ऽ ग्निषु जुह्वति ।
शब्दाऽऽदीन् विषयान् अन्य
इन्द्रिया ऽ ग्निषु जुह्वति ॥

कान आदि सब इंद्रिन् आना
संयम अग्नि मध्य हवनाना ।
शब्द आदि सब विषय हुताना
इंद्रिन रूपि अग्नि महँ आना ॥

२७

सर्वाणीन्द्रिय – कर्माणि
प्राण – कर्माणि चा ऽ परे ।
आत्म – संयम – योगा ऽ ग्नौ
जुह्वति ज्ञान – दीपिते ॥

सकल कर्म इंद्रिन के जोई
तथा कर्म प्राणन् के कोई ।
निज संयम योगाऽनल मांहीं
हुतहिं ज्ञान से अग्नि चिताई ॥

२८

द्रव्य – यज्ञास् तपोयज्ञा
योग – यज्ञास् तथा ऽ परे ।
स्वध्याय – ज्ञान – यज्ञाश् च
यतयः संशित – व्रताः ॥

द्रव्य यज्ञ तपयज्ञ हि कोई
समता योग यज्ञ अरु कोई ।
ज्ञान यज्ञ अरु वेद रटाने
दृढ़ नेमी अरु यतन कराने ॥

२९

अपाने जुह्वति प्राणम्
प्राणे ऽ पानं तथा ऽ परे ।
प्राणा ऽ पानगती रुध्द्वा
प्राणा ऽऽ याम – परायणाः ॥

अरु अपान महँ होमत प्राना
तथा प्राण महँ कोइ अपाना ।
प्राण अपान कि गति दुइ रोके
प्राणायाम मांहिं रत होके ॥

३०

अपरे नियता ऽऽ हाराः
प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वे ऽ प्येते य ज्ञ वि दो
यज्ञ – क्षपित – कल्मषाः ॥

नियमित करि आहार हिं आना
प्राणन् महँ अरु होमत प्राना ।
ये सब यज्ञ विजानन् हारे
पाप यज्ञसे जिन्ह निस्तारे ॥

३१

यज्ञ – शिष्टामृत – भुजो
यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नाऽयं लोकोस्त्ययज्ञस्य
कुतो ऽ न्यः कुरु सत्तम! ॥

यज्ञ किये पर अन्न सुधा ही
खाकर ब्रह्म सनातन जाही ।
यज्ञ न करि, न उसे यह लोका
किमु पुनि पार्थ! पाइ पर लोका ॥

३२

एवं बहुविधा यज्ञा
विताता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान्
एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

ऐसे यज्ञ अनेक प्रकारा
कहे वेदमें बहु विस्तारा ।
जानहु कर्म जन्य सब एही
होवहु मुक्त जानि अस जेहीं ॥

३३

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद्
ज्ञान यज्ञः परंतप ! ।
सर्वं कर्मा ऽखिलं पार्थ !
ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

पार्थ! यज्ञ जे द्रव्य प्रधाना
ज्ञान यज्ञ तिनसे अधिकाना ।
यत, फल सहित कर्म सकला ही
पार्थ! समावत ज्ञान हि मांहीं ॥

३४

तद् विद्धि प्रणिपातेन
परि – प्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्
ज्ञानिनस् तत्त्वदर्शिनः ॥

लहु सो ज्ञान प्रणाम हि पाहीं
पुनि पुनि पूछिय करि सेवा हीं ।
उपदेशहिं वे तुमको ज्ञाना
तत्त्व दर्शी जे ज्ञानि सुजाना ॥

३५

यज्ज्ञात्वा न पुनर् मोहम्
एवं यास्यसि पांडव! ।
येन भूतान्यशेषेण
द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

अर्जुन! ज्ञान प्राप्त कर जोई
मोह न तुमको पुनि अस होई ।
जासु चराचर पूर्ण तयाही
देखहु निजमें अरु मुझ मांहीं ॥

३६

अपि चेद् असि पापेभ्यः
सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञान – प्लवेनैव
वृजिनं संतरिष्यसि ॥

यद्यपि होवहु पापी हू से
अतिशय पापी तुम सबहू से ।
ज्ञान रूपि इस नौका ही से
तर जावहु सब पापों ही से ॥

३७

यथैधांसि समिद्धो ऽ ग्निर्
भस्मसात् कुरुते ऽ र्जुन ! ।
ज्ञाना ऽ ग्निः सर्व–कर्माणि
भस्मसात् कुरुते तथा ॥

जलती अग्नि काष्ठ सब कैसे
अर्जुन ! करे भस्म मय जैसे ।
तैसे ज्ञान – अग्नि कर्मों हीं
करे भस्म मय सब सफलां हीं ॥

३८

न हि ज्ञानेन सदृशम्
पवित्रं इह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः
कालेना ऽऽ त्मनि विन्दति ॥

नहिं पवित्र इह ज्ञान समाना
कछु ही भारत! जगमें आना ।
योग सुसिद्ध ज्ञान निज मांई
योग्य समय महँ आप हि पाई ॥

३९

श्रद्धा — वांल्लभते ज्ञानम्
तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम्
अचिरेणा ऽ धि–गच्छति ॥

ज्ञान तु पावे श्रद्धा वाना,
इंद्रिय संयमि यतन कराना ।
हे अर्जुन! सो ज्ञान मिलाई
परम शान्ति को शीघ्र हि जाई ॥

४०

अज्ञश् चा ऽ श्रद्दधानश् च
संशया ऽऽ त्मा विनश्यति ।
नाऽयं लोको ऽ स्ति न परो
न सुखं संशया ऽऽ त्मनः ॥

अज्ञानी श्रद्धा बिनु , जोई
संशयि मनका नष्ट हि होई ।
लोक न यह, परलोक हि नाहीं
संशयि मनको सुखभी नाहीं ॥

४१

योग – संन्यस्त – कर्माणम्
ज्ञान – संच्छिन्न – संशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि
निबध्नन्ति धनंजय ! ॥

तजे कर्म फल योग जुडाई
मेटे संशय ज्ञान मिलाई ।
अर्जुन ! जीते मनको जोई
कर्म न बांधत उसको कोई ॥

४२

तस्माद् अज्ञान – संभूतम्
हृत्स्थं ज्ञानाऽसिना ऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगम्
आतिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥

दोहा–अत अज्ञान जनित यही,
हिय बसि संशय छेउ ।
आत्म ज्ञान कृपाण पहिं,
पार्थ ! योग उठि सेउ ॥

हरिः ॐ तत् सत् इति

श्रीमद् भगवद् गीतासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म – विद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृ ष्णा ऽ र्जु न – सं वा दे
कर्म – ब्रह्मार्पण–योगो नाम
च तु र्थो ऽ ध्या यः ॥४॥

श्री भगवान् कृष्ण की गाई
उषनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मक ज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
कर्म ब्रह्म को अर्पण गाया
गीता महँ चौथा अध्याया ।
करि हिन्दी गीता चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्ना गाई ॥४॥

श्री कृष्णाऽर्पण मस्तु

अध्याय पांचवा

१ **अर्जुन उवाच** १

संन्यासं कर्मणां कृष्ण ! — कह अर्जुन; हरि! कर्मन् का ही–
पुनर् योगं च शंससि । — योग, पुनः संन्यास सराहीं ।
यच्छ्रेय एतयोर् एकम् — दुइमें श्रेयस्कर इक जोई
तन् मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ — कहु मुझको अति निश्चित सोई ॥

२ **श्री भगवान् उवाच** २

संन्यासः कर्मयोगश्च — कह हरि; कर्मयोग संन्यासा
निःश्रेयसकरावुभौ । — दोनों श्रेयस कारि सुपासा ।
तयोस्तु कर्म—संन्यासात् — किन्तु कर्म संन्यास हि पाहीं
कर्मयोगो विशिष्यते ॥ — कर्मयोग दुइ महँ अधिकाही ॥

३

ज्ञेयः स नित्य–संन्यासी — जानहु नित संन्यासी सोई
यो न द्वेष्टि न कांक्षति । — द्वेष न करहि, न इच्छहि जोई ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो — कारण, सुख दुख द्वन्द्व न जाके
सुखं बंधात् प्रमुच्यते ॥ — छूटत बंधन सुखसे ताके ॥

४

सांख्य योगौ पृथग् बालाः — बालिश कहत सांख्य अरु योगा
प्रवदन्ति न पंडिताः । — अलग अलग न तु पंडित लोगा ।
एकं अप्यास्थितः सम्यक् — एक हि को अपि सेवे नीका
उभयोर् विन्दते फलम् ॥ — पावे फल जो दोनों ही का ॥

५

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानम् — जो संन्यास पाहिं पद पावे
तद् योगैर् अपि गम्यते । — सोइ योग से अपि मिल जावे ।
एकं सांख्यं च योगं च — योग तथा संन्यास हि जोई
यः पश्यति स पश्यति ॥ — एकहि देखत देखत सोई ॥

६

संन्यासस्तु महाबाहो ! पर अर्जुन ! संन्यास मिलाना
दुःखं आप्तुं अयोगतः । योग बिना सो कठिन हि माना ।
योग-युक्तो मुनिर् ब्रह्म युक्त योग से मुनि जो होई
न चिरेणा ऽ धि-गच्छति ॥ तुरत ब्रह्म को पावहि सोई ॥

७

योग-युक्तो विशुद्धा ऽऽ त्मा योग युक्त शुचि चित्त हि जोई
विजिता ऽऽ त्मा जितेन्द्रियः । जीते मन अरु इंद्रिन जोई ।
सर्व-भूता ऽऽ त्म-भूता ऽ त्मा सब जीवात्मा आत्मा जाको
कुर्वन् अपि न लिप्यते ॥ करत पि कर्म न लिपटत ताको ॥

८

नैव किंचित् करोमीति मैं न करौं कछु अस वह माने
युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । योगयुक्त जो तत्त्व हि जाने ।
पश्यञ् शृण्वन् स्पृशञ् जिघ्रन् देखत सुनत हि छूअत खावत
अश्नन् गच्छन् स्वपञ् श्वसन् ॥ सूंघत सोवत श्वासत जावत ॥

९

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् बोलत पकरत करत विसर्जन
उन्मिषन् निमिषन् अपि । अरु अपि खोलत मींचत नयनन् ।
इन्द्रियाणीन्द्रिया ऽ र्थेषु इंद्रिन निज निज विषयन मांई
वर्तन्त इति धारयन् ॥ बर्तत अस वह मानत जाई ॥

१०

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि अर्पहि कर्म ब्रह्म महँ जोई
संगं त्यक्त्वा करोति यः । परितजि संग, कर्म करि जोई ।
लिप्यते न स पापेन लिप्त न होइ पापसे सोई
पद्म-पत्रं इवा ऽ म्भसा ॥ जस न कमल दल जलसे होई ॥

११

कायेन मनसा बुद्ध्या
केवलैर् इंद्रियैर् अपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति
संगं त्यक्त्वा SS त्मशुद्धये ॥

तनुमे मनसे बुद्धि हि पाहीं
अरु अपि केवल इंद्रिन पाहीं ।
योगी करत कर्म तजि संगा
अन्तःकरण शुद्धि हित चंगा ॥

१२

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा
शान्तिं आप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः काम कारेण
फले सक्तो निबध्यते ॥

योग युक्त तजि कर्म फलांहीं
अन्तिम शान्ति मुक्ति को जाही ।
योग अयुक्त काम का प्रेरा
फल महँ चिपके बँधे घनेरा ॥

१३

सर्व — कर्माणि मनसा
संन्यस्या SS स्ते सुखं वशी ।
नव — द्वारे पुरे देही
नैव कुर्वन् न कारयन् ॥

मनसे सब ही कर्म तजाना
निज संयमि सुख से हि रहाना ।
नव द्वारन् के पुरमे देही
नाहिं करे ना करवावे ही ॥

१४

न कर्तृत्वं न कर्माणि
लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्म-फल-संयोगम्
स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

ना कर्तापन ना कर्महीं
ईश्वर लोगन् का उपजाही ।
नाहिं कर्म को फल से जोरे
प्रेरे पर स्वभाव सब ठोरे

१५

ना SS दत्ते कस्यचित् पापम्
न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेना SS वृतं ज्ञानम्
तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

ईश्वर किसिका पाप न लेही
ना किसिका सत्कर्म गहे ही ।
ढके ज्ञानको यत अज्ञाना
तासु मोह प्राणिन् का पाना ॥

१६

ज्ञानेन तु तदज्ञानम्
येषां नाशित – मात्मनः ।
तेषां आदित्यवज् ज्ञानम्
प्रकाशयति तत् परम् ॥

किन्तु आत्म विषयक अज्ञाना
ज्ञान पाहिं जिनका हि नसाना ।
उनको ज्ञान हि सूर्य समाना
परम ब्रह्म प्रगटावत जाना ॥

१७

तद्बुद्धयस् तदात्मानस्
तन्निष्ठास् तत्परायणाः ।
गच्छन्त्य – पुनरावृत्तिम्
ज्ञान – निर्धूत – कल्मषाः ॥

बुद्धि ब्रह्म महँ, ब्रह्म स्वरूपा,
ब्रह्मनिष्ठ, गति ब्रह्म निरूपा ।
जहँ से पुनि न फिरे तहँ जाई
जेहि ज्ञान से पाप नसाई ॥

१८

विद्या – विनय – संपन्ने
ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च
पंडिताः सम दर्शिनः ॥

ज्ञान विनय युत ब्राह्मण मांहीं
तथा गाय अरु हाथी मांहीं ।
श्वान तथा चांडाल हि मांहीं
पंडित देखत सम नयनां ही ॥

१९

इहैव तैर् जितः सर्गो
येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म
तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

जीतहिं वे संसार इहां ही
रह मन जिनका समता मांहीं ।
ब्रह्म हि दोष रहित समता ही
तासु रहे वे ब्रह्म हि मांहीं ॥

२०

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य
नोद्विजेत् प्राप्य चाऽप्रियम् ।
स्थिर – बुद्धिर् असंमूढो
ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

प्रिय पाइ न जो हर्ष मनाई
लहि अप्रिय अरु जो न उबाई ।
निर्मोही स्थिर बुद्धि रहाना
रहे ब्रह्म में ब्रह्म सुजाना ॥

२१

बाह्य स्पर्शेष्व–सक्ता SS त्मा
विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्म योग युक्ताSSत्मा
सुखं अक्षय – मश्नुते ॥

बाह्य स्पर्श के विषयन् में जो
अनासक्त लह सुख निजमें जों ।
ब्रह्म योग में चित्त जुड़ाना
तैसा सुख वह शाश्वत पाना ॥

२२

ये हि संस्पर्शजा भोगा
दुःख – योनय एव ते ।
आद्यन्त वन्तः कौन्तेय !
न तेषु रमते बुधः ॥

विषय जनित यत भोग हि जे ते
अर्जुन ! दुख के कारण ते ते ।
आवहिं जावहिं नश्वर एही
अत ज्ञानी तिनमें न रमेही ॥

२३

शक्नोतीहैव यः सोढुम्
प्राक् शरीर – विमोक्षणात् ।
काम क्रोधोद्भवं वेगम्
स युक्तः स सुखी नर ॥

जीते जी इह सहु सक जोई
देह त्यागने तक नर जोई ।
काम क्रोध का वेग हि सारा
वहि नर योगी वहि सुखियारा ॥

२४

यो S न्तःसुखो S न्तरारामम्
तथाऽन्तर् ज्योति रेव यः ।
स योगी ब्रह्म – निर्वाणम्
ब्रह्म – भूतो S धि–गच्छति

निज महँ सुखि, निज महँ रममाना,
अरु निज में हि प्रकाश लहाना ।
ब्रह्म शान्ति वह योगी पाई
अरु इह ब्रह्मरूप हो जाई ॥

२५

लभन्ते ब्रह्म – निर्वाणम्
ऋषयः क्षीण – कल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यता SS त्मानः
सर्व – भूत – हिते रताः ॥

मुक्ति ब्रह्म निर्वाण कि, जोई
विगत पाप ऋषि पावहिं सोई ।
निज संयमि अरु संशय हीना
सब प्राणिन के हित महँ लीना ॥

२६

काम क्रोध- वियुक्तानाम्
यतीनां यत चेतसाम् ।
अभितो ब्रह्म निर्वाणम्
वर्तते विदिताऽऽत्मनाम् ॥

जेहि काम अरु क्रोध विहीना,
यतनशील, चित वशमें कीना, ।
ब्रह्म शान्ति तिन्ह पास रहेही
इस आत्माको जानत जेही ॥

२७

स्पर्शान् कृत्वा बहिर् बाह्यांश्
चक्षुश् चैवा ऽन्तरे भ्रुवोः ।
प्राणा ऽपानौ समौ कृत्वा
नासा ऽभ्यन्तर – चारिणौ ॥

विषय बाहरी बाहर डाले
भृकुटि बीच निज दृष्टि लगाले ।
करि अपान अरु प्राण समाना
नासा पुट महँ जे विचराना ॥

२८

यतेन्द्रिय – मनो – बुद्धिर्
मुनिर् मोक्ष – परायणः ।
विगतेच्छा – भय – क्रोधो
यः सदा मुक्त एव सः ॥

बुद्धि इंद्रियाँ मन वश कीना
मुनि जो होइ मोक्ष महँ लीना ।
इच्छा भीति क्रोध बिनु जोई
होवहि मुक्त सदा नर सोई ॥

२९

भोक्तारं यज्ञ – तपसाम्
सर्व – लोक – महेश्वरम् ।
सुहृदं सर्व – भूतानाम्
ज्ञात्वा मां शान्ति–मृच्छति

दोहा–भोक्ता तप अरु यज्ञका,
सब लोकेश्वर मोहिं ।
सब प्राणिन् का हितु मुझे,
जानि शान्ति लह सोहि ॥

हरिः ॐ तत् सत् इति

श्रीमद् भगवद् गीतासु....
कर्म – संन्यास योगो नाम
पंचमो ऽध्यायः ॥५॥

श्री भगवान् कृष्ण की गाई....
कर्म योग संन्यास कहाया
गीतामहँ पंचम अध्याया

श्री कृष्णार्पणमस्तु

अध्याय छठा

१ श्री भगवान् उवाच १

अनाश्रितः कर्मफलम् कह हरि; जो न कर्म फल चाही
कार्यं कर्म करोति यः । करि कर्तव्य कर्म निजका ही ।
स संन्यासी च योगी च संन्यासी अरु योगी सोई
न निरग्निर् न चा ऽक्रियः ॥ ना निष्क्रिय ना होमत जोई ॥

२

यं संन्यासं इति प्राहुर् संन्यास हि अस कहते जाको
योगं तं विद्धि पांडव ! । जानहु पार्थ ! योग तुम ताको ।
न ह्यसंन्यस्त – संकल्पो कारण, बिनु संकल्प तजे हीं
योगी भवति कश्चन ॥ कोउ अपि योगी नाहिं बने हीं ॥

३

आरुरुक्षोर् मुनेर् योगम् चढन योग पर मुनि जो चाही
कर्म कारण – मुच्यते । उस लगि साधन कर्म कहा हीं ।
योगा ऽऽरूढस्य तस्यैव चढ़ा योग पर उसिके ताईं
शमः कारण – मुच्यते ॥ साधन जो सो शान्ति कहाई ॥

४

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु जब इंद्रिन के विषयन् मांही
न कर्मस्वनु – षज्जते । अरु कर्मन् महँ चिपकत नाहीं ॥
सर्व – संकल्प – संन्यासी सब संकल्प तजे अरु जोई
योगा ऽऽरूढस्तदोच्यते ॥ योग सिद्ध तब कहिजे सोई ॥

५

उद्धरेद् आत्मना ऽऽत्मानम् जीतिय मन निजको उद्धारे
ना ऽऽत्मानं अवसादयेत् । ना कभि निजको नीचे डारे ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुर् कारण, मन ही निजका भाई
आत्मैव रिपु – रात्मनः ॥ मन ही निजका रिपु हो जाई ॥

६

बंधुर् आत्मा SS त्मनस् तस्य भाई होवहि मन उसका ही
येना SS त्मैवा SS त्मना जितः । जिसने जीता मन निजपाहीं ।
अनात्मनस् तु शत्रुत्वे पर अजीत मन से रिपुताहीं–
वर्तेता SS त्मैव शत्रुवत् ॥ करि, मन ही वर्तत रिपु सा ही ॥

७

जिता SS त्मनः प्रशान्तस्य मन का जेता शान्त स्वभावा
परं आत्मा समाहितः । अरु मन जिसका अति समभावा ।
शीतोष्ण – सुख – दुःखेषु शीत ऊष्ण सुख दुःख तथाही
तथा मान S पमानयोः ॥ मान और अपमान हि मांहीं ॥

८

ज्ञान – विज्ञान – तृप्ता SS त्मा मन विज्ञान ज्ञान से धाया,
कूटस्थो विजितेन्द्रियः । निर्विकार रह, जीते काया ।
युक्त इत्युच्यते योगी योगी योग सिद्ध अस जाना
सम लोष्टा S श्म कांचनः ॥ कनक ढेल पत्थर सम माना ॥

९

सुहृन् – मित्र – दुर्जनेषु – हितकारी, रिपु, मित्र, अपक्षी,
मध्यस्थ – द्वेष्य – बंधुषु । द्वेषजोग, बांधव, उभपक्षी, ।
साधुष्वपि च पापेषु साधु, पापि अपि, इन सब मांईं
समबुद्धिर् विशिष्यते ॥ रखे दृष्टि सम सो अधिकाईं ॥

१०

योगी युंजीत सततम् योगी निजको सदा जुड़ावे
आत्मानं रहसि स्थितः । नित एकान्त वास महँ जावे ।
एकाकी यत चित्ता SS त्मा रहे अकेला, चित वश मांहीं,
निराशीर् अपरिग्रहः ॥ आस रहित, संग्रह करि नाहीं ॥

११

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य
स्थिरं आसन – मात्मनः ।
नाऽत्युच्छ्रितं ना ऽतिनीचम्
चैला ऽजिन – कुशोत्तरम् ॥

शुचि प्रदेश महँ जाय लगावे–
आसन निजका अचल टिकावे ।
अति न ऊंच अति नीच न छावे
कुश मृग छाला वसन बिछावे ॥

१२

तत्रैका ऽग्रं मनः कृत्वा
यत चित्तेन्द्रिय – क्रियः ।
उपविश्या SS सने युंज्याद्
योगं आत्म – विशुद्धये ॥

तहँ मनको एकाग्र बनावे
इंद्रिन चित की क्रिया रुकावे ।
निज आसन पर बैठे ध्यावे
आत्म शुद्धि हित योग जुड़ावे ॥

१३

समं कायशिरो – ग्रीवम्
धारयन् अचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाऽग्रं स्वम्
दिशश्चा ऽ नवलोकयन् ॥

मेरुदंड अरु ग्रीवा माथा
स्थिर रहि राखि अचल सम साथा ।
निज नासाग्रे दृष्टि लगाई
देखे ना इत उत दिशि मांई ॥

१४

प्रशान्ता SSत्मा विगतभीर्
ब्रह्मचारि – व्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो
युक्त आसीत मत्परः ॥

मन सुशान्त रखि, निर्भय होई
रखि व्रत ब्रह्मचारि का सोई ।
मन संयमि, चित मुझ में लाई
योग सिद्ध रह रत मुझ मांई ॥

१५

युंजन् एवं सदा SSत्मानम्
योगी नियत – मानसः ।
शान्तिं निर्वाण – परमाम्
मत्संस्थां अधि – गच्छति ॥

ऐसे निजको सदा जुड़ाना
योगी मन वश मांहिं राखाना ।
परम शान्ति निर्वाण कि जोई–
स्थित मुझमें, वह पावहि सोई ॥

१६

नाऽत्यश्नतस् तु योगोऽस्ति
न चैकान्तं अनश्नतः ।
न चाऽति स्वप्नशीलस्य
जाग्रतो नैव चार्जुन! ॥

योग सधे ना अति भोजी को
जो न खाय कछु ना ताही को ।
तथा सधे ना अति सोवे को
पार्थ! नहीं ही अति जागे को ॥

१७

युक्ताऽऽहार – विहारस्य
युक्त – चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त – स्वप्नाऽवबोधस्य
योगो भवति दुःखहा ॥

जिसके मित आहार विहारा
कर्मन् मांहीं मित व्यवहारा ।
मित सोना मित जगना जाको
योग होइ दुख नाशक ताको ॥

१८

यदा विनियतं चित्तम्
आत्मन्येवाऽवतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्व – कामेभ्यो
युक्त इत्युच्यते तदा ॥

चित्त निरोधित किया हुवा ही
ठहरे जब निज ही के मांहीं ।
रह निरिच्छ सब भोगन पाहीं
योग सिद्ध अस तब कहलाहीं ॥

१९

यथा दीपो निवातस्थो
नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य
युंजतो योग – मात्मनः ॥

अ पवन थल महँ दीप शिखाहीं
जस न हिले सो उपमा गाई ।
योगी के जित मनकी, जोई
निजका योग जुड़ावत होई ॥

२०

यत्रोप – रमते चित्तम्
निरुद्धं योग – सेवया ।
यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानम्
पश्यन् आत्मनि तुष्यति ॥

होवे चित्त शान्त जिस मांई
वृत्ति रोकि हठ योग सधाई ।
अरु जिसमें निजको मनसे ही
लखि, संतुष्ट होइ निजमें ही ॥

२१

सुखं आत्यन्तिकं यत् तत्
बुद्धि – ग्राह्यं अतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवा ऽयम्
स्थितश् चलति तत्वतः ॥

अति असीम सुख जो कहलाई
इंद्रिन परे बुद्धि से पाई ।
जिहिं अनुभवि अरु रहि जिसमांहीं
आत्म तत्वसे गिरि कभि नाहीं ॥

२२

यं लब्ध्वा चा ऽपरं लाभम्
मन्यते ना ऽधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन
गुरुणा ऽपि विचाल्यते ॥

जिसे प्राप्त कर लाभ हि आना
माने ना उससे अधिकाना ।
हे अर्जुन! अरु रहि जिस मांहीं
भारी दुखसे अपि न डिगाही ॥

२३

तं विद्याद् दुःख संयोग–
वियोगं योग – संज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो
योगो ऽनिर्विण्ण – चेतसा ॥

दुःख संबंध हि दूर कराना
उसका जानु योग अभिधाना ।
निश्चय से वहि योग जुड़ावे
अथक चित्तमे उसे मिलावे ॥

२४

संकल्प – प्रभवान् कामांस्
त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः ।
मनसैवेन्द्रिय – ग्रामम्
विनियम्य समंततः ॥

सब संकल्प जनित इच्छा हीं.
त्याग देइ संपूर्ण तया ही ।
मन ही से इंद्रिय समुदायी
सकल ओरसे राखि रुकाई ॥

२५

शनैः शनैर् उपरमेद्
बुद्ध्या धृति – गृहीतया ।
आत्म संस्थं मनः कृत्वा
न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

धीरे धीरे शान्त बनाही
धीरज धारि बुद्धि के पाहीं ।
आत्म हि में मन राखइ नीका
नाहिं करे चिन्तन कछु ही का ॥

२६

यतो यतो निश्चरति
मनश्चंचल – मस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतद्
आत्मन्येव वशं नयेत् ॥

निकसे बाहर जहाँ जहाँ से
यह मन चंचल अस्थिरता से ।
खींचे तहाँ तहाँ से एहीं
आत्म हि में मन वश करि लेहीं ॥

२७

प्रशान्त – मनसं ह्येनम्
योगिनं सुख – मुत्तमम् ।
उपैति शान्त – रजसम्
ब्रह्म – भूतं अकल्मषम् ॥

यत, सुशान्त मन योगी जोई
शान्त रजोगुण जिसका होई ।
मिले परम सुख अस योगी को
ब्रह्म स्वरूपी निष्पापी को ॥

२८

युंजन् एवं सदा SSत्मानम्
योगी विगत – कल्मषः ।
सुखेन ब्रह्म – संस्पर्शम्
अत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

ऐसे निजको सदा जुड़ाना
योगी पातक मुक्त रहाना ।
ब्रह्म स्पर्श का अनुभव जोई--
सुख असीम, लह सुख से सोई ॥

२९

सर्व – भूतस्थ – मात्मानम्
सर्व – भूतानि चा SSत्मनि ।
ईक्षते योगयुक्ता SSत्मा
सर्वत्र समदर्शनः ॥

निजको सकल चराचर मांहीं
सकल चराचर अरु निज मांहीं ।
देखहि योग मांहिं मन जोरे
दृष्टि समान रखे सब ठोरे ॥

३०

यो मां पश्यति सर्वत्र
सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि
स च मे न प्रणश्यति ॥

देखहि जो मुझको सब मांई
अरु जो देखहि सब मुझ मांई ।
वह मुझको कभि भूलत नाहीं
नाहिं अगोचर अरु मैं ताहीं ॥

३१

सर्व भूतस्थितं यो माम्
भजत्येकत्व – मास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानो ऽ पि
स योगी मयि वर्तते ॥

सब अग जग मस्थित मुझकोही
भजे एकता अनुभवि जोही ।
यद्यपि बर्तहि किसी प्रकारा
रह वह योगी मुझमें सारा ॥

३२

आत्मौपम्येन सर्वत्र
समं पश्यति योऽर्जुन! ।
सुखं वा यदि वा दुःखम्
स योगी परमो मतः ॥

निजके सदृश सबके मांहीं
अर्जुन! जो सम देखत जाही ।
सुख को यदि वा दुख को जोई
माना परम हि योगी सोई ॥

३३ अर्जुन उवाच ३३

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः
साम्येन मधुसूदन! ।
एतस्याऽहं न पश्यामि
चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥

कह अर्जुन, तुम हे भगवाना!
जो यह समता योग बखाना ।
इसकी मै तो देखहुं नाहीं
चंचल तासे स्थिति अचला ही. ॥

३४

चंचलं हि मनः कृष्ण!
प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये
वायोरिव सुदुष्करम् ॥

कारण, केशव! यह मन भारी.
चंचल हठिला क्षोभन् कारी ।
मानहुं निग्रह मै मनका ही
पवन पकरना तिमि कठिना ही ॥

३५ श्री भगवान् उवाच ३५

असंशयं महाबाहो!
मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय
वैराग्येण च गृह्यते ॥

कह हरि, अर्जुन! संशय नाहीं
मन चंचल निग्रह कठिना ही ।
किन्तु पार्थ! अभ्यास तथाही
दृढ वैराग्य पाहिं गहि जाही ॥

३६

असंयता ऽऽ त्मना योगो
दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्या ऽऽ त्मना तु यतता
शक्यो ऽ वाप्तु – मुपायतः ॥

मन वश-नाहिं-को कठिन घनेरा
योग मिलाना अस मत मेरा ।
राखि यतन करि मन वश में ही
सो उपाय पहिं मिला सके ही

३७

अयतिः श्रद्धयोपेतो
योगाच् चलित – मानसः ।
अप्राप्य योग – संसिद्धिम्
कां गतिं कृष्ण! गच्छति ॥

कह अर्जुन, जो श्रद्धा वाना
अपुरे संयम यतन कराना ।
सम्यक् योगसिद्धि बिनु पाई
योग-चलित-मन का गति जाई ॥

३८

कच्चिन् नोभय – विभ्रष्टश्
छिन्ना ऽ भ्रं इव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो!
विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥

भ्रष्ट होइ कहिं दुहुँ ओरा ही
भग्न मेघ जिमि तो न नशाही ।
निराधार हो हे यदुराई!
मोहित जोइ ब्रह्म पथ मांई ॥

३९

एतन् मे संशयं कृष्ण!
छेत्तुं अर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्या ऽ स्य
छेत्ता न ह्युप – पद्यते ॥

केशव! तुम यह संशय मेरा
पूर्ण मिटावन उचित घनेरा ।
इस संशय का मेटन हारा
कबहुँ मिले ना तुमसे न्यारा ॥

४०

पार्थ! नैवेह ना ऽ मुत्र
विनाशस् तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चित्
दुर्गतिं तात! गच्छति ॥

कह भगवान्, पार्थ! इह लोकाँ
नाश न उसका ना परलोकाँ ।
यत, कल्याण कारि नर जोई
तात! न पावे दुर्गति कोई ॥

४१

प्राप्य पुण्यकृतांल् लोकान्
उषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योग भ्रष्टो ऽभिजायते ॥

पुण्यवन्त के लोक हि पाई
रहकर तहँ बहु वर्षन् तांई ।
शुचि धनवानों के घर मांही
योग भ्रष्ट नर ले जन्मा ही ॥

४२

अथवा योगिनां एव
कुले भवति धीमताम् ।
एतद् धि दुर्लभतरम्
लोके जन्म यदीदृशम् ॥

बुद्धिमान् अस योगिन् केही-
कुलमहँ अथवा जन्म हि लेही ।
यत, यह भी अति दुर्लभ आही
जो अस जन्म मिले जग मांहीं ॥

४३

तत्र तं बुद्धि – संयोगम्
लभते पौर्व – दैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः
संसिद्धौ कुरुनन्दन ! ॥

तहँ संस्कार बुद्धिका पावे
पूर्व जन्म महँ जोहि जुरावे ।
अधिक पूर्व से करि यतनां ही
योग सिद्धि हित पार्थ ! तदाही ॥

४४

पूर्वा ऽभ्यासेन तैनैव
ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुर् अपि योगस्य
शब्द – ब्रह्मा ऽतिवर्तते ॥

पूर्व जन्म का वहि अभ्यासा
खींचे उसको बरबस पाँसा ।
योग मांहि अपि प्रविशे जोई
ब्रह्म वादि से बढ़कर होई ॥

४५

प्रयत्नाद् यतमानस्तु
योगी संशुद्ध – किल्बिषः ।
अनेक – जन्म – संसिद्धस्
ततो याति परां गतिम् ॥

योगि यतन पर यतन कराना
मुक्त पापसे शुद्ध रहाना ।
सिद्ध अनेक जन्म महँ होई
लहे परम गति को तब सोई ॥

४६

तपस्विभ्यो ऽधिको योगी
ज्ञानिभ्यो ऽपि मतो ऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चा ऽधिको योगी
तस्माद् योगी भवा ऽर्जुन ! ॥

योगी तपसिन् से अधिकाना
ज्ञानिन् से भी बढ़कर माना ।
कर्मठ से भी अधिक हि योगी
तासु पार्थ ! तुम होवहु योगी ॥

४७

योगिनां अपि सर्वेषाम्
मद्गतेना ऽन्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो माम्
स मे युक्ततमो मतः ॥

दोहा–अपि सब योगिन् मांहि जो,
मुझमें चित्त लगाहि ।
श्रद्धायुत मुझको भजे,
मानुं योगिवर ताहिं ॥

ॐ तत् सत् इति

श्री मद् भगवद् गीतासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म – विद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृ ष्णा र्जु न – सं वा दे
ध्यान – योगो नाम
ष ष्ठो ऽ ध्या यः ॥६॥
श्री कृ ष्णा र्प ण
मस्तु

श्री भगवान कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मकज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
ध्यान योग अस जाकर नामा
सो अध्याय छठा गीतामां ॥
करि हिन्दी गीता चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्ना गाई ॥६॥

अध्याय सातवा

१ श्री भगवान् उवाच १

मय्यासक्त – मनाः पार्थ! कह हरि, मुझमें मनहिं लगावो
योगं युंजन् मदाश्रयः । लेउ शरण मम योग जुड़ावो ।
असंशयं समग्रं माम् संशय रहित समग्र हि जैसे
यथा ज्ञास्यसि तच् छृणु ॥ जानहु मुझे पार्थ! सुनु तैसे ॥

२

ज्ञानं ते ऽहं सविज्ञानम् कहुं मैं तुम्हें सृष्टि विज्ञाना
इदं वक्ष्याम्य – शेषतः । अरु अशेष ईश्वर का ज्ञाना ।
यज् ज्ञात्वा नेह भूयो ऽन्यत् जो जानिय पुनि जग में आना
ज्ञातव्यं अवशिष्यते ॥ योग्य जानने कछु न रहाना ॥

३

मनुष्याणां सहस्रेषु बहु सहस्र मानव महँ कोई
कश्चिद् यतति सिद्धये । यतन सिद्धि हित करत हि होई ।
यततां अपि सिद्धानाम् यततन् सिद्धन् महँ अपि कोई–
कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ मुझे तत्त्व से जानत होई ॥

४

भूमिरापो ऽनलो वायुः भू जल अनल पवन गगना ही
खं मनो बुद्धिरेव च । मन अरु बुद्धि = महत् तत्त्वा हीं ।
अहंकार इतीयं मे अहंकार अस यह मम सारी
भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ जानहु प्रकृति अष्ट विध न्यारी ॥

५

अपरेयं इतस्त्वन्याम् यह अपरा पर इससे आना
प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जानु प्रकृति मम परा महाना ।
जीव भूतां महाबाहो जीव रूपि यह अर्जुन! होई
ययेदं धार्यते जगत् ॥ धारण करत जगत सब जोई ॥

६

एतद् – योनीनि भूतानि
सर्वाणीत्युप – धारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः
प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

सब अग जग का उगम ठिकाना
जानु प्रकृति मम दोउ महाना ।
तासु अखिल जग का मैं होऊं
उत्पादक संहारक दोऊ ॥

७

मत्तः परतरं ना ऽन्यत्
किंचिद् अस्ति धनंजय! ।
मयि सर्वं इदं प्रोतम्
सूत्रे माणि गणा इव ॥

मुझसे परे और दुसरा ही
हे अर्जुन! कहँ कछुही नाहीं ।
मुझमें सब ये गूंथे तैसे
सूत्र मध्य हो माणि गण जैसे ॥

८

रसो ऽ हमप्सु कौन्तैय!
प्रभा ऽ स्मि शशि सूर्ययोः ।
प्रणवः सर्व – वेदेषु
शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

रस हूं अर्जुन! मैं जल मांहीं
तथा प्रभा हूं रवि शशि मांहीं ।
प्रणव ॐ सब वेदन् मांहीं
ध्वनि नभ महँ, साहस नर मांहीं ॥

९

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च
तेजश्चा ऽ स्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्व – भूतेषु
तपश्चा ऽ स्मि तपस्विषु ॥

विमल गंध मैं पृथिवी मांहीं
हूं मैं तेज अग्नि के मांहीं ।
जीवन हूं सब प्राणिन् मांहीं
तप हूं अरु मैं तपसिन् मांहीं ॥

१०

बीजं मां सर्व – भूतानाम्
विद्धि पार्थ! सनातनम् ।
बुद्धिर् बुद्धिमतां अस्मि
तेजस्तेजस्विनां अहम् ॥

सकल चराचर का मुझ जानो
बीज सनातन अर्जुन! मानो ।
बुद्धि बुद्धिमानों की मैं हूं
तेज तेजवानों का मैं हूं ॥

११

बलं बलवतां चाऽहम्
काम – राग – विवर्जितम् ।
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु
कामोऽस्मि भरतर्षभ! ॥

बलवानों का बल मैं होऊं
इच्छा प्रीति रहित अस जोऊ ।
धर्म विरुद्ध पार्थ! नहिं जाऊ
प्राणिन् माहिं काम अस होऊं ॥

१२

ये चैव सात्विका भावा
राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि
न त्वहं तेषु, ते मयि ॥

जे ही सात्विक भाव विकारा
अरु जे रज तम गुण अनुसारा ।
जानहु होवत वे मुझ से ही
न तु मैं तिनमे वे मुझ में ही ॥

१३

त्रिभिर् गुणमयैर् भावैर्
एभिः सर्वं इदं जगत् ।
मोहितं नाऽभिजानाति
मां एभ्यः परमव्ययम् ॥

सत रज तम मय भाव विकारा
तिनसे मोहित जग यह सारा ।
तासु न जानत मुझ, मैं जोई–
भाव परे अविकारी होई ॥

१४

दैवी ह्येषा गुणमयी
मम माया दुरत्यया ।
मां एव ये प्रपद्यन्ते
मायां एतां तरन्ति ते ॥

यत, खिलाड़ि यह गुण मयि मेरी
माया तरने कठिन घनेरी ।
जे नर मुझ हीं को शरणाई
इस माया पहिं वे तर जाई ॥

१५

न मां दुष्कृतिनो मूढाः
प्रपद्यन्ते नरा धमाः ।
मायया ऽपहृत – ज्ञाना
आसुरं भाव – माश्रिताः ॥

पर मुझको दुष्कर्म कराना
मूढ़ नराधम नाहिं भजाना ।
माया पहिं तिन्ह ज्ञान नशावा
धारण कीना असुर स्वभावा ॥

१६

चतुर्विधा भजन्ते माम्
जनाः सुकृतिनो ऽर्जुन! ।
आर्तो जिज्ञासु – रर्थार्थी
ज्ञानी च भरतर्षभ! ॥

भजत मुझे जन चार प्रकारा
हे अर्जुन! जे शुभ आचारा ।
पीडित, जानन चाही, भोगी,
भारतवर! अरु ज्ञानी योगी ॥

१७

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त
एकभक्तिर् विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनो ऽत्यर्थम्
अहं स च मम प्रियः ॥

तिनमहँ ज्ञानी नित रत जोई
भक्त अनन्य हि बढ़कर होई ।
जस ज्ञानी को मैं अति प्यारा
तैसे ज्ञानी मुझको प्यारा ॥

१८

उदाराः सर्व एवैते
ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा
मां एवा ऽनुत्तमां गतिम् ॥

सबहि भक्त उदार महाना
ज्ञानी पर मम आत्मा माना ।
यत, रह नित रत मुझमें ज्ञानी
गति मुझेहि अति उत्तम मानी ॥

१९

बहूनां जन्मनां अन्ते
ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
"वासुदेवः सर्वं" इति
स महात्मा सुदुर्लभः ॥

बहुत जन्म के अन्तिम मांई
ज्ञानवान् सो मुझको पाई ।
"वासुदेव मय सब" अस जाना
असहि महात्मा विरला माना ॥

२०

कामैस्तैस्तैर् हृतज्ञानाः
प्रपद्यन्ते ऽन्यदेवताः ।
तं तं नियम – मास्थाय
प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

नसा ज्ञान तिन तिन इच्छासे
भजि वे इतर देवता तासे ।
विविध व्रतों महँ नेम धराना
निज स्वभाव आधीन रहाना ॥

२१

यो यो यां यां तनु भक्तः
श्रद्धया ऽ र्चितु – मिच्छति ।
तस्य तस्या ऽ चला श्रद्धाम्
तां एव विदधाम्यहम् ॥

जो जो भक्तहि जिस जिस रूपा
चहे पूजना श्रद्धा हू पा ।
उस उसकी उसही श्रद्धा को
अविचल करहूं मै ही ताको ॥

२२

स तया श्रद्धया युक्तस्
तस्या ऽऽ राधन – मीहते ।
लभते च ततः कामान्
मयैव विहितान् हि तान् ॥

युक्त उसी श्रद्धा से होई
पूजे दैवत अभिमत जोई ।
उससे इष्ट भोग लह सोई
जो मेरे ही प्रेरित होई ॥

२३

अन्तवत् तु फलं तेषाम्
तद् भवत्यल्प -- मेधसाम् ।
देवान् देव–यजो यान्ति
मद् भक्ता यान्ति मां अपि ॥

नाशवान पर फल वह होई
अल्प बुद्धि वे पावहि जोई ।
देव भक्त देवन् पहँ जाई
तथा भक्त मम मुझ पहँ आई ॥

२४

अव्यक्तं व्यक्ति -- मापन्नम्
मन्यन्ते मा अबुद्धयः ।
परं भावं अजानन्तो
ममा ऽ व्ययं अनुत्तमम् ॥

मूढ़ मानि अव्यक्त हि पाहीं
इतर जीव जिमि मै जन्माही ।
परम तत्व मम जानि न, जोई–
अविकारी अति उत्तम होई ॥

२५

ना ऽ हं प्रकाशः सर्वस्य
योग–माया -- समावृतः ।
मूढो ऽ यं ना ऽ भिजानाति
लोको मां अज–मव्ययम् ॥

सबही को मैं गोचर नाहीं
योग = जुड़न + गुण = माया पाहीं ।
इसका मूढ़ यह लोक न जाने
मुझ अजन्म अविकारि रहाने ॥

२६

वेदा ऽ हं समतीतानि
वर्तमानानि चा ऽ र्जुन! ।
भविष्याणि च भूतानि
मां तु वेद न कश्चन ॥

हुये पूर्व महँ तिन्ह मैं जानूं
अभि है अर्जुन! उनको जानूं ।
जानुं चराचर आगे होई
पर मुझको नहिं जानत कोई ॥

२७

इच्छा – द्वेष – समुत्थेन
द्वन्द्व – मोहेन भारत! ।
सर्व – भूतानि संमोहम्
सर्गे यान्ति परंतप! ॥

इच्छा द्वेष जनित जो होई
मोह-द्वन्द्व-सुख-दुख का जोई ।
तासे मोहित प्राणिन् सारा
अर्जुन! जन्मते हिं संसारा ॥

२८

येषां त्वन्तगतं पापम्
जनानां पुण्य – कर्मणाम् ।
ते द्वन्द्व – मोह – निर्मुक्ता
भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

नष्ट हुवा पर पाप जिन्हों का
सज्जन पावन कर्म करोंका ।
द्वन्द्व मोह से छूटत ते ही
दृढ निश्चय से भजत मुझेहीं ॥

२९

जरा – मरण – मोक्षाय
मां आश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नम्
अध्यात्मं कर्म चा ऽ खिलम् ॥

जरा मरण से छुटन ताईं
करत यतन जे मुझ शरणाईं ।
वे उस पूर्ण ब्रह्म को जाने
अरु अध्यात्म, कर्म सब जाने ॥

३०

सा ऽ धि भूता ऽ धि दैवं माम्
सा ऽ धि यज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाण काले ऽ पि च माम्
ते विदुर् युक्त – चेतसः ॥

दोहा–साधि भूत अधि दैव सह,
लखि अधियज्ञ मुझे हि ।
अन्तकाल महँ भी मुझे,
जानहि सममन तेहि ॥

ॐ तत् सत् इति

श्री मद् भगवद् गीतासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म – विद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृ ष्णा र्जु न – सं वा दे
ज्ञान विज्ञान योगो नाम
स प्त मो ऽ ध्या यः ॥७॥
श्री कृ ष्णा र्प ण
म स्तु

श्री भगवान कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मक ज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
ज्ञान विज्ञान योग कहलाया
गीता महँ सप्तम अध्याया ।
करि हिन्दी गीता चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्ना गाई ॥७॥

*

अध्याय आठवा

१ अर्जुन उवाच १

किं तद् ब्रह्म? किमध्यात्मम्? पूछे पार्थ ब्रह्म वह काहू?
किं कर्म? पुरुषोत्तम! किम अध्यात्म? कर्म अरु काहू? ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तम्? किम अधिभूत कृष्ण! कहलाई?
अधिदैवं किमुच्यते? ॥ किम अधिदैव होइ? यदुराई! ॥

२

अधियज्ञः कथं कोऽत्र अरु अधि यज्ञ इहाँ को कैसा
देहे ऽ स्मिन्? मधुसूदन! । इस तनुमांहीं? हे परमेशा! ।
प्रयाण काले च कथम् अन्त समय तुमको किमु जाने
ज्ञेयोऽसि नियता ऽऽत्मभिः? ॥ मन संयमि? तब कृष्ण बखाने ॥

३ श्री भगवान् उवाच ३

अक्षरं ब्रह्म परमम् ब्रह्म परम अक्षर ही जाना
स्वभावो ऽ ध्यात्ममुच्यते । अरु स्वभाव अध्यात्म बखाना ।
भूत भावोद्भव – करो भाव चराचर का उपजाना
विसर्गः कर्म संज्ञितः ॥ सृष्टि कर्म ही कर्म बखाना ॥

४

अधिभूतं क्षरो भावः नाशिभाव अधिभूत कहाही
पुरुषश्चा ऽ धिदैवतम् । तथा पुरुष अधिदैवत आही ।
अधियज्ञो ऽ ह–मेवा ऽ त्र अरु मैं ही अधियज्ञ इहाँ ही
देहे देहभृतां वर! ॥ हे अर्जुन! प्रति तनुके मांहीं ॥

५

अन्तकाले च मां एव अन्त काल महँ अरु मुझको ही
स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् । सुमिरत तनु तजि जावहि जोही ।
यः प्रयाति स मद् भावम् मम स्वरूप को पावहि सोई
याति नास्त्यत्र संशयः ॥ इसमें संशय कछु नहिं होई ॥

६

यं यं वा ऽपि स्मरन् भावम्
त्यजत्यन्ते – कलेवरम् ।
तं तं एवैति कौन्तेय!
सदा तद् भाव – भावितः ॥

यत सुमिरत जिस जिस अपि भावा
अन्त समय महँ तनु तजि जावा ।
वह उस उसी भावको जाही
उसी भाव महँ लीन सदा ही ॥

७

तस्मात् सर्वेषु कालेषु
मां अनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पित – मनो – बुद्धिर्
मां एवैष्यस्य – संशयः ॥

इहि कारण सब कालहि मांई
स्मरो मुझे अरु करो लड़ाई ।
अर्पि बुद्धि अरु मन मुझ मांहीं
मिलहु मुझे ही संशय नाहीं ॥

८

अभ्यास – योग – युक्तेन
चेतसा ना ऽन्य – गामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यम्
याति पार्थ ऽनु–चिन्तयन् ॥

दृढ प्रयत्न से चित्त लगावे
दुसरी ओर न जाने पावे ।
परम प्रकाशि पुरुष को पावे
हे अर्जुन! जो अस नित ध्यावे ॥

९

कविं पुराण-मनु-शासितारम्
अणो रणीयांसमनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्य रूपम्
आदित्य-वर्णं तमसःपरस्तात् ॥

सुमिरे जो – सर्वज्ञ, पुराना,
शासक, अणुसे सूक्ष्म रहाना, ।
सब पोषक, अचिन्त्य अस रुपा,
तमसे परे, सूर्य सम रूपा ॥

१०

प्रयाण काले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर् मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुष–मुपैति दिव्यम् ॥

अन्त समय अविचल मनुसे जो
संयुत भक्ति योग बलसे जो ।
भ्रू बिच प्राण नीक रखि ध्यावे
उस अति दिव्य पुरुषको पावे ॥

११

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये

कहे वेद-विद् अक्षर जाको
अनासक्त मुनि मिलतहिं जाको ।
राखत ब्रह्मचर्य चहिं जोई
तुम्हें सार महँ कहुं पद सोई ॥

१२

सर्व – द्वाराणि संयम्य
मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्या-धायाऽऽत्मनः प्राणम्
आस्थितो योग – धारणाम् ॥

इंद्रिन के सब द्वार लगाई
बंद करे मन हिय पुट मांई ।
ब्रह्म रंध्रमें रखि निज प्राना
योग मांहि चित अचल टिकाना ॥

१३

ॐ इत्येका ऽक्षरं ब्रह्म
व्याहरन् मां अनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहम्
स याति परमां गतिम् ॥

ब्रह्म ॐ इक अक्षर जानी
जपे तथा सुमिरे मुझ प्रानी ।
त्यागि देह अस जावहि जोई
जाय परम गतिको नर सोई ॥

१४

अनन्य – चेताः सततम्
यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्या ऽहं सुलभः पार्थ!
नित्य – युक्तस्य योगिनः ॥

एक चित्तसे संतत जोई
नित प्रति मुझको सुमिरत होई ।
पार्थ! सहज मैं मिलुँ उसको ही
नित रत मुझमें योगी जोही ॥

१५

मां उपेत्य पुनर् जन्म
दुःखा ऽऽ लयं अशाश्वतम् ।
ना ऽऽ प्नुवन्ति महात्मानः
संसिद्धिं परमां गताः ॥

मुझे पाइ पुनि जन्म न लेहीं
जन्म दुःखमय नश्वर जे ही ।
योगि महात्मा अर्जुन! जे ही
पावहि सिद्धि परम शुभ ते ही ॥

१६

आ ब्रह्म भुवनाल् लोकाः
पुनरावर्तिना ऽ र्जुन ! ।
मां उपेत्य तु कौन्तेय !
पुनर् जन्म न विद्यते ॥

ब्रह्म लोक तक लोक हि जेही
आवा गमन कारि सब ते ही ।
पर अर्जुन ! जे मुझ पहँ आहीं
उन्ह लगि पुनर् जन्म पुनि नाहीं ॥

१७

सहस्र – युग – पर्यन्तम्
अहर् यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युग सहस्रा ऽ न्ताम्
ते ऽ हो रात्र – विदो जनाः ॥

युग सहस्र तक काल महाना
ब्रह्मा का जो इक दिन जाना ।
युग सहस्र तक रजनी जेही
जानत दिन रजनी जन तेही ॥

१८

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः
प्रभवन्त्य – हरा – गमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते
तत्रैवा ऽ व्यक्त – संज्ञके ॥

अग जग सब अव्यक्त हि पाहीं
दिन उगने पर धरि रूपाहीं ।
रात होइ तब लय को जाई
उसिमें जो अव्यक्त कहाई ॥

१९

भूत-ग्रामः स एवा ऽ यम्
भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमे, ऽ वशः पार्थ !
प्रभवत्य – हरागमे ॥

यही चराचर का समुदायी
हो होकर पुनि लयको जाई ।
रात होत तब, अवश हि जोई
दिन उगने पर उपजत सोई ॥

२०

परस् तस्मात् तु भावो ऽ न्यो
ऽ व्यक्तो ऽ व्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु
नश्यत्सु न विनश्यति ॥

इस अव्यक्त परे दुसरा ही
भाव सनातन अव्यक्ता ही ।
जो जब यह सब जगत् नशाई
तब भी सो कभि नाश न पाई ॥

२१

अव्यक्तो ऽ क्षर इत्युक्तस्
तं आहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते
तद् धाम परमं मम ॥

सो अव्यक्त हि अक्षर नामा
कहते जिसे परम गति धामा ।
जिसे पाइ पुनि लौटत नाहीं
अस सो धाम परम मम आही ॥

२२

पुरुषः स परः पार्थ!
भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्या ऽन्तः-स्थानि भूतानि
येन सर्वं इदं ततम् ॥

परम पुरुष हे अर्जुन! सोई
एक भक्ति से लहना होई ।
रहे चराचर जिसमें सारा
जिहिं व्यापा यह सकल पसारा ॥

२३

यत्र काले त्वनावृत्तिम्
आवृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालम्
वक्ष्यामि भरतर्षभ! ॥

योगी तनु तजि जेही काला
पुनि न आइ अरु आनेवाला ।
कहहुं काल मै तुमको सोई
हे भारत वर! सुनु जो होई ॥

२४

अग्नि ज्योति – रहः शुक्लः
षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति
ब्रह्म ब्रह्म – विदो जनाः ॥

शुक्ल पक्ष दिन अग्नि प्रकाशा
सूर्य उत्तरायण छउ मासा ।
तब जो योगी तनु तजि जाई
ब्रह्म – सुजाना ब्रह्म हिं पाई ॥

२५

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः
षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्
योगी प्राप्य निवर्तते ॥

रजनी धूम कृष्ण पखवारा
मास दक्षिणायन छउ सारा ।
इनमें चंद्र ज्योति को जाई
पर वह योगी पुनि इह आई ॥

२६

शुक्ल – कृष्णे गती ह्येते
जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्य–नावृत्तिम्
अन्यया ऽऽ वर्तते पुनः ॥

शुक्ल कृष्ण अस गति ये दोई
जग की शाश्वत मानी होई ।
पहली से पुनि इह ना आवे
दुसरी से पर इह पुनि आवे ॥

२७

नैते पार्थ! सृती जानन्
योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु
योग युक्तो भवा ऽर्जुन! ॥

जाने पार्थ! मार्ग ये दोई
मोह न पावे योगी कोई ।
सबहि काल महँ, कारण सोऊ ॥
युक्त योगसे अर्जुन होऊ ॥

२८

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थान-मुपैति चाद्यम्

दोहा— वेद यज्ञ तप दान महँ,
जो जो पुण्य कहाय ।
सबसे अधिक हि जानि यह,
योगि आदि पद पाय ॥

ॐ तत् सत् इति

श्री मद् भगवद् गीतासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म – विद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृ ष्णा र्जु न – सं वा दे
अक्षर ब्रह्म योगो नाम
अ ष्ट मो ऽ ध्या यः ॥८॥
श्री कृ ष्णा र्प ण
म स्तु

श्री भगवान कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मकज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
अक्षर ब्रह्म योग कहलाया
गीता महँ अष्टम अध्याया ।
करि हिन्दी गीता चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्ना गाई ॥८॥

अध्याय नववा

१ श्री भगवान् उवाच १

इद तु ते गुह्यतमम्
प्र व क्ष्या म्य न सू य वे ।
ज्ञानं विज्ञान – सहितम्
यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसे ऽशुभात् ॥

कह भगवान ; गूढ़ अति जोही
कहुं तुम्ह दोष–दृष्टि–बिनु कोही ।
सह विज्ञान ज्ञान यह जोऊ
जानि अशुभ से मुक्त हि होऊ ॥

२

राज – विद्या राज – गुह्यम्
पवित्रं इद – मुत्तमम् ।
प्रत्यक्षा ऽ व गमं धर्म्यम्
सुसुखं कर्तु – मव्ययम् ॥

विद्या अरु गुह्यन् महँ राजा
धर्म युक्त, पावन कर, साजा ।
अनुभव महँ प्रत्यक्ष जनाई,
अविनाशी, सुखसे करि जाई ॥

३

अश्रद्दधानाः पुरुषा
धर्मस्या ऽ स्य परंतप ! ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते
मृत्यु – संसार – वर्त्मनि ॥

जे मानव श्रद्धा रखि नाहीं
हे अर्जुन ! इस धर्महि मांहीं ।
मुझे पाइ बिनु, वे पुनि आई
इह संसार – मृत्यु – पथ मांई ॥

४

मया ततं इदं सर्वम्
जगद् अव्यक्त – मूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्व – भूतानि
न चा ऽ हं तेष्ववस्थितः ॥

व्यापा मैने जग यह सारा
मम अव्यक्त रूप के द्वारा ।
भाव चराचर रह मुझ मांहीं
पर मैं नाहिं रहूँ तिन मांहीं ॥

५

न च मत्स्थानि भूतानि
पश्य मे योग – मैश्वरम् ।
भूतभृन् न च भूतस्थो
ममा ऽऽ त्मा भूतभावनः ॥

रूप चराचर नहिं मुझ मांई
देखु ईश्वरी मम प्रभुताई ।
जग भर्ता अरु जगमें नाहीं
मम संकल्प हि जगत् बढ़ाही ॥

६

यथा ऽऽकाशस्थितो नित्यम्
वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि
मत्स्थानीत्युप – धारय ॥

गहि नभ महँ जस पवन महाना
सकल विश्व महँ नित्य बहाना ।
तैसे सकल चराचर जानो
मुझ में रहे सदा अस मानो ॥

७

सर्वभूतानि कौन्तेय!
प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये, पुनस्तानि
कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

पार्थ! चराचर जग यह सारा
प्रकृति मांहिं मम विलयन हारा ।
बीति कल्प तब, पुनि मैं ताहीं
सृजहुं कल्प के आदि हि मांहीं ॥

८

प्रकृतिं स्वा अवष्टभ्य
विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्रामं इमं सर्वम्
अवशं प्रकृतेर् वशात् ॥

निजी प्रकृति को करि आधारा
निर्माऊं मैं बारम्बारा ।
सकल चराचर का समुदायी
यह जो अवश प्रकृति बश पाहीं ॥

९

न च मां तानि कर्माणि
निबध्नन्ति धनंजय! ।
उदासीनवदासीनम्
असक्तं तेषु कर्मसु ॥

सृष्टि सृजन लय ये कर्महीं
पार्थ! मुझे कभि बांधत नाहीं ।
उदासीन इव रहुँ आसीना
इन्ह कर्मन महँ संग विहीना ॥

१०

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः
सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय!
जगद् विपरिवर्तते ॥

प्रकृति हि देख भाल मुहँ मेरी
करि उत्पत्ति चराचर केरी ।
इहि कारण हे अर्जुन! सारा
जगत फिरे यह बारंबारा ॥

११

अवजानन्ति मां मूढा
मानुषीं तनु – माश्रितम् ।
परं भावं अजानन्तो
मम भूत – महेश्वरम् ॥

मूढ़ अवज्ञा करतहिं मेरी
इस मानव तनु धारित केरी ।
परम तत्व नहिं जानत मेरा
जो महेश मै अग जग केरा ॥

१२

मोघाशा मोघकर्माणो
मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीं आसुरीं चैव
प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

व्यर्थ हि आशा कर्म वृथा ही
मृषा ज्ञान उन मूढ़न का ही ।
राक्षस की असुरन् के जेही
प्रकृति लुभानी को गहि लेहीं ॥

१३

महात्मानस्तु मां पार्थ !
दैवीं प्रकृतिं – माश्रिताः ।
भजन्त्यनन्य – मनसो
ज्ञात्वा भूतादि – मव्ययम् ॥

पार्थ! महात्मा जन पर जेही
दैवि प्रकृति का आश्रय लेहीं ।
इक मनसे भजि, मुझे निहारी
आदि चराचर का, अविकारी ॥

१४

सततं कीर्तयन्तो माम्
यतन्तश्च दृढ – व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या
नित्य – युक्ता उपासते ॥

संतत कीर्तन करतहिं मेरा
दृढ़ नेमी करि यतन घनेरा ।
नमन भक्ति से करत मुझे हीं
नित रत मुझमें भजि मुझ ते ही ॥

१५

ज्ञान – यज्ञेन चा ऽ प्यन्ये
यजन्तो माम् उपासते
एकत्वेन पृथक्त्वेन
बहुधा विश्वतो मुखम् ॥

ज्ञान यज्ञ से अरु अपि कोई
पूजिय मुझे उपासत होई ।
अरु एकता भिन्नता पाहीं
बहु विध तया विश्व रूपाहीं ॥

१६

अहं क्रतुर् अहं यज्ञः
स्वधा ऽ हं अह – मौषधम् ।
मंत्रो ऽ हं अहमेवा ऽऽ ज्यम्
अहं अग्निर् अहं हुतम् ॥

क्रतु मै, तथा यज्ञ भी मैं हूं,
अरु मैं स्वधा, वनस्पति मैं हूं, ।
तथा मंत्र मै, घृत भी मैं ही,
हवन द्रव्य मैं, पावक मैं ही ॥

१७

पिता ऽ हं अस्य जगतो,
माता, धाता, पितामहः ।
वेद्यं पवित्र – मोंकार
ऋक् – साम – यजुरेव च ॥

हूं इस जगका मात पिता मैं
तथा पितामह, अरु धाता मैं ।
ज्ञेय, पवित्र परम, ॐकारा
यजुः साम ऋग्वेद हि सारा ॥

१८

गतिर् भर्ता प्रभुः साक्षी
निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानम्
निधानं बीज – मव्ययम् ॥

शासक, स्वामी, गति, साक्षी, मैं
धाम, आसरा, हितकारी, मैं ।
सृष्टि सृजन लय पालन हारा
तथा निधान, बीज, अविकारा ॥

१९

तपाम्यहं अहं वर्षम्
निगृह्णाम्युत् – सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च
सद् असच् चा ऽ ह–मर्जुन ॥

सूर्य रूपसे तपुं मैं ताता
रोकहुं वर्षा करहुं निपाता ।
अमृत तथा मृत्यु अपि होऊं
अरु मैं पार्थ! असत् सत् जोऊ ॥

२०

त्रैविद्या मां सोमपाः पूत पापा
यज्ञैर् इष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्य-मासाद्य सुरेन्द्र-लोकम्
अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥

वैदिक, सोमपि, अनघ यजाने
मुझे यज्ञसे, स्वर्ग चहाने ।
पुण्य सुरेश लोक वे जाई
दिव्य भोग देवन् के पाई ॥

२१

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयी – धर्म – मनुप्रपन्ना
गता ऽ गतं काम–कामा लभन्ते ॥

स्वर्ग लोक वे भोगि विशाला
आवत इहाँ पुण्य क्षय काला ।
वेद धर्म के अस अनुगामी
पावत आवागमन सकामी ॥

२२

अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्
ये जनाः पर्यु – पासते ।
तेषां नित्या – भियुक्तानाम्
योग – क्षेमं वहाम्यहम् ॥

एक चित्तसे चिंतन मेरा
करि जे जन अरु भजि सब बेरा ।
नित रत मुझमें अस तिनके ही
सब चारितार्थ चलावहुं मै ही ॥

२३

ये ऽ प्यन्य – देवता – भक्ता
यजन्ते श्रद्धया ऽ न्विताः ।
ते ऽ पि मां एव कौन्तेय!
यजन्त्य – विधि – पूर्वकम् ॥

अरु जे भक्त पि इतर सुरोके
यजन करत श्रद्धा युत होके ।
वे अपि अर्जुन! भजत मुझेहीं
अनुचित विधि से पर भजि ते ही ॥

२४

अहं हि सर्व – यज्ञानाम्
भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मां अभिजानन्ति
तत्वेना ऽ तश्च्यवन्ति ते ॥

कारण, मैं सब यज्ञों का ही
हूँ स्वामी अरु अधिभोक्ता ही ।
पर मुझको अस जानत नाहीं
तासु तत्व से वे गिर जाहीं ॥

२५

यान्ति देवव्रता देवान्
पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या
यान्ति मद्याजिनो ऽ पि माम् ॥

देव भक्त देवन् पहँ जावे
पितर पूजि पितरन् को पावे ।
यजिय भूत भूतन् पहँ जाई
मम पूजक अपि मुझ पहँ आई ॥

२६

पत्रं पुष्पं फलं तोयम्
यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तद् अहं भक्त्युपहृतम्
अश्नामि प्रयता SS त्मनः ॥

पत्र फूल फल जल वा कोई
मुझे भक्तिसे अर्पत होई ।
अर्पित भक्ति पाहिं मै सोई
पावहुँ मन संयमि का जोई ॥

२७

यत् करोषि यदश्नासि
यज् जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय !
तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥

करहु कर्म जो, खावहु जोई,
करहु यजन जो, देवहु जोई, ।
अरु हे पार्थ ! तपहु तप जोई,
अर्पण करहु मुझे सब सोई ॥

२८

शुभा S शुभ – फलैरेवम्
मोक्ष्यसे कर्म – बंधनैः ।
संन्यास – योग–युक्ताSSत्मा
विमुक्तो मां उपैष्यसि ॥

तासु अशुभ शुभ कछु फल दायी-
कर्म – बंधसे छुटहु जाई ।
अर्पण – बुद्धि–योग–युत होई
पावहु मुक्त होइ मुझको ही ॥

२९

समो S हं सर्व – भूतेषु
न मे द्वेष्यो S स्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या
मयि ते, तेषु चा S प्यहम् ॥

सब प्राणिन महँ सम मै होऊं
मुझे न अप्रिय प्रिय नहिं कोऊ ।
भजे भक्ति से पर मुझ जेही
रह मुझमें वे, मैं तिनमें ही ॥

३०

अपि चेत् सुदुराचारो
भजते मां अनन्य – भाक् ।
साधु रेव स मन्तव्यः
सम्यक् व्यवसितो हि सः ॥

यद्यपि दुराचारि अति कोई
भक्त अनन्य भजे मुझ जोई ।
तो वह साधु हि माना जाई
यत लागा शुभ निश्चय मांई ॥

३१

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा
शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय! प्रतिजानीहि
न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

तुरत पुण्यमय वह हो जाई
शाश्वत शान्ति—मुझे को पाई ।
जानहु अर्जुन! निश्चय पाहीं
मेरा भक्त न कबहुँ नशाई ॥

३२

मां हि पार्थ! व्यपाश्रित्य
येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्
तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

यत, हे पार्थ! भजे मुझ जे ही
अपि हो पापी कुलके ते ही ।
स्त्रियां वैश्य अरु शूद्र तथा ही
वे अपि उत्तम गति को जाहीं ॥

३३

किं पुनर् ब्राह्मणाः पुण्या
भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यं असुखं लोकम्
इमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

पुण्यवन्त पुनि ब्राह्मण का ही?
भक्त राजऋषि लगि कहि जाही ।
नश्वर असुखी इस जग मांहीं
आकर करहु भजन मेरा ही ॥

३४

मन्मना भव मद्भक्तो
मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवम्
आत्मानं मत्परायणः ॥

दोहा—मन मुझ दो, मम भक्त हो
यजहु नमहु तुम मोहिं ।
अस निजको नित जोड़ि कै
मम रत पावहु मोहिं ॥

ॐ तत् सत् इति

श्री मद् भगवद् गीतासु....
राजविद्या राजगुह्य योगो नाम
नवमोऽध्यायः ॥९॥

श्री भगवान् कृष्ण की गाई....
विद्या गुह्य राज कहलाया
गीता महँ नववा अध्याया ॥

अध्याय दसवाँ

१ श्री भगवान् उवाच १

भुय एव महाबाहो! कह भगवान; पुनिहि बड़ बाहू!
शृणु मे परमं वचः। यह मम सुनहु परम वचनां हू।
यत् ते ऽहं प्रीयमाणाय होइ प्रमोद तुम्हें सुनि यासे
वक्ष्यामि हित – काम्यया॥ कहुं मैं पुनि तव हित इच्छासे॥

२

न मे विदुः सुरगणाः सुरगण तथा महा ऋषि जे ही
प्रभवं न महर्षयः। जन्म न मेरा जानत ते ही।
अहं आदिर् हि देवानाम् कारण, हूं मैं आदि सबोंका
महर्षीणां च सर्वशः॥ महा ऋषिन् अरु देव गणोंका॥

३

यो मां अजं अनादिं च मुझे अनादि अजन्मा जोई
वेत्ति लोक – महेश्वरम्। लोक महेश्वर जानत होई।
असंमूढः स मर्त्येषु विगत मोह मनुजन् महँ सोई
सर्व – पापैः प्रमुच्यते। मुक्त सकल पापोंसे होई।

४

बुद्धिर् ज्ञानं अ संमोहः बुद्धि, शान्ति, अमूढ़ता, ज्ञाना,
क्षमा सत्यं दमः शमः। क्षमा, सत्य, इंद्रिन वश लाना।
सुखं दुःखं भवो ऽ भावो सुख, दुख, जन्म, विनाश तथाही,
भयं चा ऽ भय – मेव च॥ अरु हे पार्थ! अभय, भयता, ही॥

५

अहिंसा समता तुष्टिस् तोष, अहिंसा, समता, दाना,
तपो दानं यशो ऽ यशः। यश, अपयश, अरु तप, अस नाना।
भवन्ति भावा भुतानाम् भाव = योग ये प्राणिन केही
मत्त एव पृथग् विधाः॥ होवत नाना विध मुझ से ही॥

६

महर्षयः सप्त पूर्वे
चत्वारो मनवस्तथा ।
मद् भावा मानसा जाता
येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

सात महा ऋषि अति प्राचीना
चार तथा मनु मनसे कीना ।
भाव = विभूति सकल ये मेरी
प्रजा लोक महँ यह जिन केरी ॥

७

एतां विभूतिं योगं च
मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सो ऽविकम्पेन योगेन
युज्यते ना ऽत्र संशयः ॥

मम विभूति ये योग तथा ही
जान हि अस जो तत्त्व तया ही ।
अचल योग से सोइ जुड़ाही
इसमें संशय कछु ही नाहीं ॥

८

अहं सर्वस्य प्रभवो
मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते माम्
बुधा भाव – समन्विताः ॥

हूं मैं सबका उगम ठिकाना
अरु मुझहींसे सब वर्ताना ।
ऐसे जानिय भजत मुझेहीं
श्रद्धा युत हो पंडित जेही ॥

९

मच्चित्ता मद्गत – प्राणा
बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यम्
तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

मुझमें चित रखि मुझमें प्राना
करत परस्पर बोध सुजाना ।
अरु मम कीर्तन करत सदा ही
लहि संतोष रमत मुझ मांहीं ॥

१०

तेषां सतत – युक्तानाम्
भजतां प्रीति – पूर्वकम् ।
ददामि बुद्धि योगं तम्
येन मां उपयान्ति ते ॥

संतत मुझमें लगे रहाना
प्रेम साहित मम भजन कराना ॥
उनको बुद्धि योग वहि देऊं
जासु पार्थ ! मुझको मिलि तेऊ ॥

११

तेषां एवाऽनुकम्पार्थम्
अहं अज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो
ज्ञान–दीपेन भास्वता ॥

उन्हि पर दया करन हित सारा
मैं अज्ञान जनित अँधियारा ।
नाशउँ रहकर हियके मांहीं
ज्ञान प्रकाशि दीप के पाहीं ॥

१२ अर्जुन उवाच १२

परं ब्रह्म परं धाम
पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यम्
आदिदेवं अजं विभुम् ॥

कह अर्जुन; तुम ब्रह्म परम हो
धाम परम पावन कर तुम हो ।
दिव्य सनातन पुरुष महाना
आदि देव अज व्यापि रहाना ॥

१३

आहुस्त्वां ऋषयः सर्वे
देवर्षिर् नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः
स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥

अस बर्णत सब ऋषिन तुम्हे हीं
तथा देवऋषि नारद जे ही ।
देवल, असित, व्यास ऋषि राना
स्वयं आप भी मुझे बखाना ॥

१४

सर्वं एतद् ऋतं मन्ये
यन् मां वदसि केशव! ।
न हि ते भगवन्! व्यक्तिम्
विदुर् देवा न दानवाः ॥

यह सब ही मैं सत्य हि माना
केशव! जो तुम मुझे बखाना ।
प्रकट करन बल तव भगवाना
नाहिं देव ना दानव जाना ॥

१५

स्वयं एवाऽऽत्मनाऽऽत्मानम्
वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम! ।
भूत–भावन! भूतेश!
देव–देव! जगत्पते! ॥

आपहि अपने को अपनै से
जानहु भगवन्! तुम हो जैसे ।
हे जगदीश! जगत निर्माता
हे सुरेश! हे जग के त्राता! ॥

१६

वक्तुं अर्हस्यशेषेण
दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर् विभूतिभिर् लोकान्
इमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥

कहु कृपया संपूर्णतया ही
परम दिव्य निज विभूतियां हीं ।
तुम जिन्ह विभूतियों के द्वारा
व्यापि रहे हो जग यह सारा ॥

१७

कथं विद्यां अहं योगिन्!
त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु
चिन्त्योऽसि भगवन्! मया ॥

जानुं तुम्हें मैं कौन प्रकारा
हरि! नित चिंतन करत तुम्हारा ।
किन किन रूपों महँ तव चिंतन
करना योग्य मुझे हे भगवन्! ॥

१८

विस्तरेणाऽऽत्मनो योगम्
विभूतिं च जनार्दन! ।
भूयः कथय तृप्तिर् हि
शृण्वतो नाऽस्ति मेऽमृतम् ॥

कृष्ण! सविस्तर योग तुम्हारा
तथा विभूतिन् का विस्तारा ।
कहु पुनि, मुझको तृप्ति न होई
सुनतहिं वचना ऽमृत तव सोई ॥

१९ श्री भगवान् उवाच १९

हन्त! ते कथयिष्यामि
दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ!
नाऽस्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥

कह हरि; अच्छा! कहुं तुमसे ही
विभूतियां मम दिव्य हि जे ही ।
कहुँ पर पार्थ! प्रमुख प्रमुखा हीं
मम विस्तारा अन्त हि नाहीं ॥

२०

अहं आत्मा गुडाकेश!
सर्व-भूताऽऽशय-स्थितः ।
अहं आदिश्च मध्यं च
भूतानां अन्त एव च ॥

पार्थ! अन्तरात्मा मैं आही
रहुँ सब प्राणिन् के हिय मांहीं ।
अरु मैं आदि मध्य भी मैं हूँ
अन्त चराचर का अपि मैं हूँ ॥

२१

आदित्यानां अहं विष्णुर्
ज्योतिषां रवि – रंशुमान् ।
मरीचिर् मरुतां अस्मि
नक्षत्राणां अहं शशी ॥

विष्णु हि मैं आदित्यन मांही
किरण वान रवि ज्योतिन मांही ।
मरुतन मांहि मरीचि प्रधाना
नक्षत्रन महँ चंद्र सुहाना ॥

२२

वेदानां सा म वे दो ऽस्मि
देवानां अस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चा ऽस्मि
भूतानां अस्मि चेतना ॥

साम वेद हूं वेदन मांही
देवों महँ हूं इंद्र तथा ही ।
इंद्रिन मांहि मुझे मन जानो
प्राणिन् केरि चेतना मानो ॥

२३

रुद्राणां शंकरश्चा ऽस्मि
वि त्ते शो यक्ष रक्ष साम् ।
वसूनां पावकश्चा ऽस्मि
मेरुः शिखरिणां अहम् ॥

शंकर हूं मैं रुद्र मंझेरा
राक्षस यक्षन् मांहि कुबेरा ।
हूं मैं अग्नि अष्ट वसुओं में
मेरु शिखर हूं गिरि शिखरों में ॥

२४

पुरोधसां च मुख्यं माम्
विद्धि पार्थ! बृहस्पतिम् ।
सेनानीनाम् अहं स्कन्दः
स र सां अ स्मि सा ग रः ॥

जान हु पार्थ! पुरोहित मांहीं
प्रमुख बृहस्पति सो मैं आही ।
सेना पतिन मांहि मैं स्कन्दा
सरवर महँ सागर जल बुन्दा ॥

२५

म ह र्षी णां भृगुर् अहम्
गिरां अस्म्येक – मक्षरम् ।
यज्ञानां जप – यज्ञो ऽस्मि
स्थावराणां हि मा ल यः ॥

महर्षियों महँ भृगुऋषि मैं हूं
ॐ इक अक्षर शब्दों में हूं ।
हूं जप यज्ञ यज्ञकुल मांहीं
मैं हि हिमाचल अचलन मांहीं ॥

२६

अश्वत्थः सर्व-वृक्षाणाम्
देवर्षीणां च नारदः ।
गंधर्वाणां चित्ररथः
सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥

सकल तरुन् महँ पीपल होऊँ
देव ऋषिन् महँ नारद जोऊ ।
मैं हि चित्ररथ गंधर्वों में
कपिल महा मुनि हूँ सिद्धों में ॥

२७

उच्चैःश्रवसमश्वानाम्
विद्धि मां अमृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणाम्
नराणां च नराऽधिपम् ॥

उच्चैःश्रवा हयन् महँ जानो
अमृत मंथन पहिं निकसानो ।
ऐरावत गजवर महँ मानो
नृपति नरों महँ मुझको जानो ॥

२८

आयुधानां अहं वज्रम्
धेनूनाम् अस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चाऽस्मि कंदर्पः
सर्पाणां अस्मि वासुकिः ॥

हूँ मैं वज्र आयुधन मांही
कामधेनु हूँ धेनुन् मांही ।
होउँ मदन मैं जनन कराना
सर्पों महँ मुझ वासुकि जाना ॥

२९

अनन्तश्चाऽस्मि नागानाम्
वरुणो यादसां अहम् ।
पितॄणां अर्यमा चाऽस्मि
यमः संयमतां अहम् ॥

नागों महँ अनन्त भगवाना
जल देवन् महँ वरुण महाना ।
होउँ अर्यमा पितरन मांही
यम मैं नियमन कारिन मांही ॥

३०

प्रह्लादश्चाऽस्मि दैत्यानाम्
कालः कलयतां अहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम्
वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥

दैत्यों महँ प्रह्लाद सुजाना
गिनति करों मैं काल महाना ।
पशु अन मांहि सिंह मृगराना
पक्षिन मांहि गरुड़ बलवाना ॥

३१

पवनः पवतां अस्मि
रामः शस्त्रभृतां अहम् ।
झषाणां मकरश्चा ऽस्मि
स्रोतसां अस्मि जाह्नवी ॥

होउँ पवन पावन कर मांहीं
हूँ मै राम शस्त्र धर मांहीं ।
मगर मुझे जलचर महँ मानो
सरिताओं में गंगा जानो ॥

३२

सर्गाणां आदिरन्तश्च
मध्यं चैवा ऽहमर्जुन ! ।
अध्यात्म-विद्या विद्यानाम्
वादः प्रवदतां अहम् ॥

सृष्टिन का संभव संहारा
अर्जुन ! हूँ मै पालन हारा ।
विद्या महँ अध्यात्मक ज्ञाना
वक्ताओं का प्रवचन जाना ॥

३३

अक्षराणां अकारो ऽस्मि
द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहं एवा ऽक्षयः कालो
धाता ऽहं विश्वतोमुखः ॥

हूँ अकार मै अक्षर मांहीं
द्वन्द्व समास समासन् मांहीं ।
मै हि काल न बीतन हारा
चतुरानन मैं जग धातारा ॥

३४

मृत्युः सर्वहरश्चा ऽहम्
उद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर् वाक् च नारीणाम्
स्मृतिर् मेधा धृतिः क्षमा ॥

सब नाशक मैं मृत्यु तथाही
भावि होन का कारण आही ।
नारिन् मांहि कीर्ति श्री बानी
स्मृति मेधा धृति क्षमा बखानी ॥

३५

बृहत्साम तथा साम्नाम्
गायत्री छंदसां अहम् ।
मासानां मार्गशीर्षो ऽहम्
ऋतूनां कुसुमाकरः ॥

बृहत्साम मैं सामन् मांहीं
गायत्री हूं छंदन मांहीं ।
मार्गशीर्ष मैं मासन मांई
ऋतुन मांहि वसन्त फुलवाई ॥

३६

द्यूतं छलयतां अस्मि
तेजस् तेजस्विनां अहम् ।
जयो ऽस्मि व्यवसायो ऽस्मि
सत्वं सत्ववतां अहम् ॥

जूआ हूँ छल कारिन माहीं
मै हि प्रभाव प्रभाविन काही ।
जय हूँ, उद्यम निश्चय मै हूँ
सत्व गुणिन का सत्व हि मैं हूँ ॥

३७

वृष्णीनां वासुदेवो ऽस्मि
पांडवानां धनंजयः ।
मुनीनां अप्यहं व्यासः
कवीनां उशना कविः ॥

वासुदेव हूँ वृष्णिन मांहीं
हूँ मै अर्जुन पांडव मांहीं ।
मै अपि व्यास मुनिन् के मांहीं
शुक्राचार्य कविन् के मांहीं ॥

३८

दण्डो दमयतां अस्मि
नीतिर् अस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवा ऽस्मि गुह्यानाम्
ज्ञानं ज्ञानवतां अहम् ॥

दण्ड नीति हूँ दमन करों की
राज नीति हूँ जय चाहों की ।
अरु हूँ मौन रहस्यन मांहीं
ज्ञान होऊँ मै ज्ञानिन काही ॥

३९

यच्च् चा ऽपि सर्व-भूतानाम्
बीजं तद् अहमर्जुन ! ।
न तद् अस्ति विना यत् स्यान्
मया, भूतं चराचरम् ॥

सकल चराचर का अपि जोऊ
बीज, धनंजय ! सो मैं होऊं ।
मेरे बिनु हो अस कछु नाहीं
हुआ चराचर जो उस मांही ॥

४०

ना ऽन्तो ऽस्ति मम दिव्यानाम्
विभूतीनां परंतप ! ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो
विभूतेर् विस्तरो मया ॥

अस मम दिव्य विभूतिन काही
हे अर्जुन ! कहँ अन्तहि नाहीं ।
मैं निर्देश लागि यह सारा
कहा विभूतिन का विस्तारा ॥

४१

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वम्
श्रीमद् ऊर्जित – मेव वा ।
तत् तद् एवा ऽवगच्छ त्वम्
मम तेजों ऽ श – संभवम् ॥

जो जो वस्तु प्रभुत्व उपेता
शोभा अथवा बल समवेता ।
जानहु अर्जुन तुम सो सोई
सब मम तेज अंश से होई ॥

४२

अथवा बहुनैतेन
किं ज्ञातेन तवा ऽर्जुन! ।
विष्टभ्या ऽहं इदं सर्वम्
एकां ऽशेन स्थितो जगत् ॥

दोहा–अथवा यह सब जानि के,
अर्जुन! तव का होइ ।
एक अँश से जगत सब,
धारि रहूँ मैं सोइ ॥

ॐ तत् सत् इति

श्रीमद् – भगवद् – गीतासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म – विद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृ ष्णा र्जु न – संवा दे
वि भू ति – यो गो नाम
द श मो ऽ ध्या यः ॥१०॥
श्री कृ ष्णा र्प ण
म स्तु

श्री भगवान कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मक ज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
नाम विभूति योग कहलाया ।
गीता महँ दसवाँ अध्याया ।
करि हिन्दी गीता चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्ना गाई ॥१०॥

१ **अर्जुन उवाच** १

मदनुग्रहाय परमम्
गुह्यं अ[illegible]
यत् त्वयोक्तं वचस्तेन
मोहो ऽयं विगतो मम ॥

कह अर्जुन, मम अनुग्रह कारन
परम गूढ़ अध्यात्म कहावन ।
सो तुम कहि जिन्ह वचनां मांहीं
तासे अब मम मोह नशा ही ॥

२

भवा ऽप्ययौ हि भूतानाम्
श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमल–पत्रा ऽक्ष!
महात्म्यं अपि चा ऽव्ययम् ॥

अग जग का संभव संहारा
सब मै सुना सहित विस्तारा ।
कमल नयन हे कृष्ण! तुम्हारी
महिमा तुमसे सुनि अविकारी ॥

३

एवं एतद् यथा ऽऽत्थ त्वम्
आत्मानं – परमेश्वर! ।
द्रष्टुं इच्छामि ते रूपम्
ऐश्वरं – पुरुषोत्तम! ॥

तुमहि आपको कहते जैसे
हे परमेश्वर! हो तुम तैसे ।
पुरुषोत्तम! मैं चाहुँ निहारा
ईश्वरीय वह रूप तुम्हारा ॥

४

मन्यसे यदि तच् छक्यम्
मया द्रष्टुं इति प्रभो! ।
योगेश्वर! ततो मे त्वम्
दर्शया ऽऽत्मान – मव्ययम् ॥

मानहु यदि यह शक्य बने ही
प्रभो! देखना रूप मुझेही ।
तो योगेश्वर! तुम मुझ ही को
दिखलावो निज अविनाशीको ॥

५ **श्री भगवान् उवाच** ५

पश्य मे पार्थ! रूपाणि
शतशो ऽथ सहस्रशः ।
नाना विधानि दिव्यानि
नाना वर्णा ऽऽकृतीनि च ॥

कह भगवान, पार्थ! मम रूपा
शत सहस्रविध लखहु अनूपा ।
दिव्य=अलौकिक विविध प्रकारा
नाना रंगि बहुत आकारा ॥

६

पश्या ऽऽदित्यान् वसून् रुद्रान् लखु आदित्य रुद्र वसुओंको
अश्विनौ मरुतस्तथा । दोनों अश्विन मरुत गणोंको ।
बहून्यदृष्ट – पूर्वाणि पूर्व न देखे पार्थ! जिन्होंको
पश्या ऽऽश्चर्याणि भारत! ॥ देखहु उन सब आश्चर्योंको ॥

७

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नम् इह एकत्र जगत विस्तारा
पश्या ऽद्य सचराचरम् । देखहु आज चराचर सारा ।
मम देहे गुडाकेश! हे भारत! मम तनुके मांही
यच्चा ऽन्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ तथा अन्य जो देखन चाही ॥

८

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् पर तुम मुझे देखु सक नाहीं
अनेनैव स्वचक्षुषा । इन्हि निज चर्म चक्षु के पाहीं ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः दिव्य दृष्टि मैं देऊँ तुम्हेही
पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ योग ईश्वरी मम लख लेही ॥

९ **संजय उवाच** ९

एवं उक्त्वा ततो राजन्! कह संजय, धृतराष्ट्र सुजाना!.
महायोगेश्वरो हरिः । तब योगेश्वर कृष्ण महाना ।
दर्शयामास पार्थाय अस कहि अर्जुन को हि दिखावा
परमं रूपमैश्वरम् ॥ परम ईश्वरी रूप सुहावा ॥

१०

अनेक – वक्त्र – नयनम् मुख अनन्त अरु नयन बहूता
अनेका ऽद्भुत – दर्शनम् । दर्शन विस्मय कारि प्रभूता ।
अनेक – दिव्या ऽऽभरणम् आभूषण बहु दिव्य अपारा
दिव्या ऽनेकोद्यता ऽऽयुधम् ॥ सज्जित दिव्य शस्त्र बहुधारा ॥

११

दिव्य – माल्या ऽम्बर–धरम्
दिव्य–गंधा ऽनु – लेपनम् ।
सर्वा ऽऽ श्चर्यमयं देवम्
अनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

दिव्य वसन वर माला हारी
दिव्य सुगंधित लेपन धारी ।
सब आश्चर्य समेत प्रकाशी
अरु अनन्त, सब दिशि मुखराशी ॥

१२

दिवि सूर्य – सहस्रस्य
भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्
भासस् तस्य महात्मनः ॥

रवि सहस्र की यदि नभ में ही
एक साथ जो प्रभा उठे ही ।
तो हो प्रभा कदाचित् वैसी
कृष्ण महात्मा की द्युति जैसी ॥

१३

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नम्
प्रविभक्तं अनेक – धा ।
अपश्यद् देव – देवस्य
शरीरे पांडवस् तदा ॥

तहाँ एक में स्थित जग सारा
थाहि विभाजित बहुत प्रकारा ।
कृष्ण सुरेश्वर के तनु माहीं
देखहि अर्जुन तब सकलाहीं ॥

१४

ततः स विस्मया ऽऽ विष्टो
हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवम्
कृतां ऽजलिर् अभाषत ॥

तब आश्चर्य चकित हो सोई
अर्जुन अतिशय पुलकित होई ।
करि प्रणाम हरि को शिरपाहीं
हाथ जोड़ि बोले वचनाहीं ॥

१५ अर्जुन उवाच १५

पश्यामि देवांस् तव देव! देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेष–संघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्
ऋषींश्च सर्वान् उरगांश्च दिव्यान् ॥

हरि ! लखुँ सब सुर तव तनु माहीं
प्रमुख चराचर – गण – संघाहीं ।
शंकर ब्रह्मा – कमलासन को
अरु सब ऋषिन् दिव्य सर्पन् को ॥

१६

अनेक – बाहूदर – वक्त्र – नेत्रम्
पश्यामि त्वां सर्वतो ऽनन्तरूपम् ।
नाऽन्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽऽदिम्
पश्यामि विश्वेश्वर! विश्वरूप! ॥

बाहु उदर मुख नयन अनूपा
लखुँ सब ओर अमित तव रुपा ।
पुनि तव आदि न मध्य न अंता
विश्वरूप! लखुं विश्व–नियन्ता! ॥

१७

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद्
दीप्ताऽनलाऽर्क – द्युतिमप्रमेयम् ॥

मुकुट गदा अरु चक्र धराना
तपत तेज सब ओर महाना ।
दर्शन देखुँ कठिन सब ओरा
जलत-अग्नि-रवि-तेज, अजोरा ॥

१८

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वत–धर्म–गोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

ज्ञेय परम तुम अविनाशी हो
इस जगके निधि परम तुम्ही हो ।
धर्म सनातन के तुम त्राता
नित अविकारि पुरुष मुझ भाता ॥

१९

अनादि मध्या ऽन्त-मनन्त-वीर्यम्
अनन्त–बाहुं शशि–सूर्य–नेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्त–हुताश–वक्त्रम्
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

अमित तेज न आदि मध अन्ता
रवि-शशि-नयन अमित भुजवंता ।
लखुँ तुम्ह जलत अग्नि मुखवंता
निज द्युति पहिं यह विश्व तपंता ॥

२०

द्यावा पृथिव्योरिदमंतरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदम्
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्! ॥

नभ-भू-अन्तर सकल दिशाही
तुम एकहि से व्यापित आही ।
अद्भुत उग्रहि रूप निहारी
प्रभो! लोक तिहुं होइ दुखारी ॥

२१

अमी हि त्वां सुर-संघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्रांजलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षि-सिद्ध-संघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥

ये सुर-संघ शरण तव आहीं
कतिक जोड़ि कर डरि गुण गाहीं ।
स्वस्ति कहत ऋषि सिद्ध गणाहीं
स्तवत तुम्हें बहु स्तवना पाहीं ॥

२२

रुद्राऽऽदित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गंधर्व-यक्षाऽसुर-सिद्ध-संघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥

वसु, आदित्य, साध्य, रुद्रा ही,
अश्विन, मरुत, पितर, विश्वा ही ।
यक्ष, असुर, सिद्धन्, गंधर्वा,
देखि तुम्हें हो चकित हि सर्वा ॥

२३

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रम्
महाबाहो! बहु-बाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहु-दंष्ट्रा-करालम्
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥

बहुत नयन मुख रूप महाना
हरि! तव भुज पद जंघा नाना ।
बहुत उदर बहु दाढ़ करारी
जग अरु मैं लखि व्याकुल भारी ॥

२४

नभःस्पृशं दीप्तमनेक-वर्णम्
व्यात्ताऽऽननं दीप्त-विशाल-नेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथिताऽन्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो! ॥

गगन भिडे बहु-रंगि उजाला
स्फारित मुख दृग लाल विशाला ।
लखि अस तुम्हें व्यथित हिय होऊं
धीरज शान्ति विष्णु! नहिं जोऊं ॥

२५

दंष्ट्रा-करालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालाऽनल-संनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश! जगन्निवास! ॥

लखि कराल तव दाढ़ मुखोंको
प्रलय कालके अग्नि समोंको ।
दिशा न जानूँ सुखी न होऊँ
जग निवास! हरि! दया करोऊ ॥

२६

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवा ऽवनि-पाल-संघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथा ऽसौ
सहा ऽस्मदीयैरपि योध-मुख्यैः ॥

अरु ये सब धृतराष्ट्र सुता ही
सहित हि भूपन् के संघाही ।
भीष्म द्रोण इस कर्ण समेता
प्रमुख हमारे अपि युध नेता ॥

२७

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्रा-करालानि भयानकानि ।
केचिद् विलग्ना दशना ऽन्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैर् उत्तमां ऽगैः ॥

घुसहिं वेगसे तव वदनोंमें
तीक्ष्ण भयंकर दाढ़ युतोंमें ।
दांत बीच तव लटके कोई
चूरचूर शिर दीसत होई ॥

२८

यथा नदीनां बहवो ऽम्बु-वेगाः
समुद्र-मेवा ऽभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवा ऽमी नरलोक-वीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥

यथा नदिन के बहुत प्रवाहा
उदधि हि संमुख दौडत जाहा ।
नर जग के ये वीर तथाही
प्रविशत तव दीपित मुखमांही ॥

२९

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्
तवा ऽपि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

जस पतंग जलती लव मांहीं
गिरत नाश लगि बहु वेगाहीं ।
प्रविशि नाश लगि लोग तथाही
तव मुखमें अपि बहु वेगाहीं ॥

३०

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंतात्
लोकान् समग्रान् वदनैर् ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रम्
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ! ॥

ग्रासत चाटहु पुनि चहुँ पाहीं
जलत मुखोंसे सकल जनाहीं ।
तेजोंसे यह जगत् भरेही
प्रभा विष्णु ! तव उग्र तपेही ॥

३१

आख्याहि मे को भवान् उग्ररूपो
नमो ऽ स्तु ते देववर! प्रसीद ।
विज्ञातु-मिच्छामि भवन्त माद्यम्
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

उग्र रूप तुम कहु मुझ कोऊ
नमुँ हरि! तुम्हें प्रसन्न हि होऊ ।
आद्य तुम्हें मैं जानन् चाहूँ
यत, तव आशय जानुँ न काहू ॥

३२ श्री भगवान् उवाच ३२

कालो ऽस्मि लोक-क्षय-कृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तु-मिह प्रवृत्तः ।
ऋते ऽ पि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
ये ऽ वस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

कह हरि; मैं इह कालहि बाढ़ो
जग नाशक जग नाशन् ठाढ़ो ।
तुम्ह बिनु अपि ये सब रहि नाहीं
वीर खड़े जे प्रति दल माहीं ॥

३३

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्व मेव
निमित्त-मात्रं भव सव्यसाचिन्! ॥

तासु उठो तुम कीर्ति मिलावो
जीति रिपुन् धनि राज्य हि पावो ।
पूर्व हि मैं हि हते तिन्ह जोऊ
पार्थ! निमित्त मात्र तुम होऊ ॥

३४

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथा ऽ न्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

भीष्म जयद्रथ द्रोण तथाही
कर्ण अन्य अपि रण वीराही ।
व्यथहु न, मारो मोर हतों को
रण महँ लड़ो जितहु रिपुओंको ॥

३५

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृतां ऽ जलिर् वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवा ऽऽ ह कृष्णम्
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

कह संजय; अस सुनि हरि बाणी
काँपत अर्जुन जोड़िय पाणी ।
पुनि हरिको करि नमन कहेही
गद् गद् डरि डरि पुनिहि नमेही ॥

३६

स्थाने हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्ध-संघाः ॥

योग्य कि हरि! तव कीर्तन द्वारा
हर्षत अनुरागत जग सारा ।
राक्षस डरि धावत दिशि मांही
करत नमन सब सिद्ध गणाही ॥

३७

कस्माच् च ते न नमेरन् महात्मन्!
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त! देवेश! जगन्निवास!
त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत् ॥

प्रभो! किमु न वे करि प्रणिपाता
श्रेष्ठ ब्रह्म से ब्रह्म सृजाता ।
हे अनन्त! सुरेश! जग धारा!
नित्य,असत्, सत्,अरु उभ पारा ॥

३८

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्व-मनन्त-रूप! ॥

आदि देव, तुम पुरुष पुराना,
इस जगके तुम परम निधाना, ।
धाम परम हो, ज्ञेय रु ज्ञाता
अमित रूप! तुम विश्व समाता ॥

३९

वायुर् यमोऽग्निर् वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश् च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश् च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

पवन, अग्नि, यम, वरुण, चंद्र हो
विधिके पिता, प्रजापति तुम हो ।
नमुँ मैं तुम्हें सहस्र हि बारा
नमो नमो अपि बारंबारा ॥

४०

नमः पुरस्ताद् अथ पृष्ठतस् ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व! ।
अनन्त-वीर्याऽमित-विक्रमस् त्वम्
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

आगे पीछे सब दिशि मांही
करुँ हे सर्व! तुम्हें नमनां ही ।
अमित तेज! अति पराक्रमी हो
सब समाउ अत सर्व तुम्ही हो ॥

४१

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तम्
हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदम्
मया प्रमादात् प्रणयेन वा ऽपि ॥

मानि सखा जो कहि हठ पाहीं
हे यादव! हे कृष्ण! सखा ही ।
यह महिमा तव जानि न ताहीं
मैं अपि स्नेह भूल वा पाहीं ॥

४२

यच्चा ऽवहासार्थमसत्कृतो ऽसि
विहार-शय्या ऽऽसन-भोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत! तत्समक्षम्
तत् क्षामये त्वां अहमप्रमेयम् ॥

करी अवज्ञा जो हँसि बेरा
खेल खान शयनासन बेरा ।
प्रभो! अकेले वा जन मांही
माँगहुँ क्षमा अतुल तुम पाहीं ॥

४३

पिता ऽसि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर् गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रये ऽप्यप्रतिम-प्रभावः ॥

लोक चराचर के पितु तुम हो
जग के पूज्य परम गुरु तुम हो ।
कोइ न तुम सम अधिक कहाँ मे
त्रिभुवन माहिं अतुल महिमा से ॥

४४

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायम्
प्रसादये त्वां अहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव! सोढुम् ॥

तासु नमूँ मै देह बिछाऊँ
तुम्हें ईश स्तवनीय मनाऊँ ।
जस पितु सुत हीं, सखा सखाहीं
पति पत्निहिं, तस सहु कृपया ही ॥

४५

अदृष्टपूर्वं हृषितो ऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव! रूपम्
प्रसीद देवेश! जगन्निवास! ॥

हर्षुं देखि जो कभि नहिं देखा
पर मन भय से व्यथित विशेखा ।
देव! मुझे वहि रूप बतावो
हे सुरेश! जगधारक! पावो ॥

४६

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम् चक्र किरीट गदा कर मांही
इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव । देखन चहुँ मैं तुम्हें तथा ही ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन वहि तुम लेउ चतुर्भुज रूपा
सहस्रबाहो! भव विश्वमूर्ते! ॥ हे सहस्रभुज! विश्व स्वरूपा! ॥

४७ श्री भगवान् उवाच ४७

मया प्रसन्नेन तवा ऽर्जुनेदम् कह हरि; तुम पर मैं तुष्टाई
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् । निज बलसे वर रूप दिखाई ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यम् आद्य अनन्त तेजमय सारा
यन् मे त्वदन्येन न-दृष्टपूर्वम् ॥ तुम बिनु पूर्व न कोइ निहारा ॥

४८

न वेद-यज्ञाऽध्ययनैर् न दानैर् अरु ना वेद पठन दानोंसे
न च क्रियाभिर् न तपोभिरुग्रैः । यज्ञ क्रिया वा उग्र तपोंसे ।
एवं-रूपः शक्य अहं नृलोके अस मम रूप देखि सक नाहीं
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर! ॥ तुम बिनु पार्थ! कोउ जग मांही ॥

४९

मा ते व्यथा मा च विमूढ-भावो दुःख मूढ़ता तुम्हें न होऊ
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् । लखि मम रूप घोर अस जोऊ ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वम् तुम प्रसन्न मन निर्भय होऊ
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ देखु रूप मम पुनि यह सोऊ ॥

५० संजय उवाच ५०

इत्यर्जुनं वासुदेवस् तथोक्त्वा कह संजय; अस कहि यदुराया
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः । पार्थ हिं पुनि निज रूप दिखाया ।
आश्वासयामास च भीतमेनम् डरे उन्हें अरु धीरज दीन्हा
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर् महात्मा ॥ सौम्य रूप पुनि हरिने लीन्हा ॥

५१ अर्जुन उवाच ५१

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपम्
तव सौम्यं जनार्दन! ।
इदानीं अस्मि संवृत्तः
सचेताः प्रकृतिं गतः ॥

कह अर्जुन; यह मानुष रूपा
प्रभो! देखि तव सौम्य अनूपा ।
शान्त चित्त मैं अबहिं हुआ हूँ
सावधान, निज भाव लिया हूँ ॥

५२ श्री भगवान् उवाच ५२

सुदुर्दर्शं इदं रूपम्
दृष्टवान् असि यन् मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य
नित्यं दर्शन-काङ्क्षिणः

कह हरि; दर्शन कठिन घनेरा
जो तुम कीन्ह रूपका मेरा ।
सुर अपि इसी रूप के तांईं
दर्शन हेतु सदा ललचाईं ॥

५३

नाऽहं वेदैर् न तपसा
न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुम्
दृष्टवान् असि मां यथा ॥

मैं न वेदसे नहिं तप पाहीं
अरु ना यज्ञ दान से नाहीं ।
शक्य हुँ दिखना इसी प्रकारा
जैसा तुम मम रूप निहारा ॥

५४

भक्त्या त्वनन्यया शक्य
अहं एवंविधो ऽर्जुन! ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन
प्रवेष्टुं च परन्तप! ॥

एक भक्ति से शक्य तु होऊँ
इस विध विश्वरूप मैं जोऊ ।
तत्त्व तया लखि जाना जाऊँ
अरु हे अर्जुन! पाया जाऊँ ॥

५५

मत्कर्मकृन् मत्परमो
मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्व-भूतेषु
यः स मां एति पांडव! ॥

दोहा—मम रत, मम हित कर्म करि,
भक्त, संग बिनु, जोइ ।
सब प्राणिन् महँ वैर बिनु,
मिले पार्थ! मुझ सोइ ॥

ॐ तत् सत् इति

श्रीमद्.— भगवद् — गीासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म — विद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृ ष्णा र्जु न — सं वा दे
विश्वरूप-दर्शन-योगो नाम
ए का द शो ऽ ध्या यः ॥११॥
श्री कृ ष्णा र्प ण
म स्तु ॥११॥

श्री भगवान कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मक ज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
विश्वरूप दर्शन कहलाया
एकादश अध्याय सुहाया
करि हिन्दी गीता चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्ना गाई ॥११॥

अध्याय बारवाँ

१ **अर्जुन उवाच** १

एवं सतत – युक्ता ये
भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाऽप्यक्षर – मव्यक्तम्
तेषां के योगवित्तमाः ? ॥

पूछि पार्थ; अस नित रत जे ही
भक्त सदा तव भजन करेही ।
अरु जे अक्षर अलख भजाने
तिन महँ योग परम को जाने ॥

२ **श्री भगवान् उवाच** २

मय्यावेश्य मनो ये माम्
नित्य – युक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते
मे युक्ततमा मताः ॥

कह हरि; मुझमें मन रखि जे ही
मुझमें नित रत मुझे भजेहीं ।
अतिशय श्रद्धायुत अरु जे ही
मानहुँ परम योगयुत ते ही ॥

३

ये त्वक्षरं अनिर्देश्यम्
अव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगं अचिन्त्यं च
कूटस्थं अचलं ध्रुवम् ॥

पर जे अक्षर अलख अनामा
भजि अव्यक्त अगोचर धामा ।
सर्व–गामि अचिन्त्य अस रूपा
निर्विकार नित अचल अरूपा ॥

४

संनियम्येन्द्रिय – ग्रामम्
सर्वत्र सम बुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मां एव
सर्व – भूत – हिते रताः ॥

नियमित करि इंद्रिय–समुदायी
बुद्धि समान रखे सब मांई ।
वे पि भक्त मुझ ही को पाई
रत सब प्राणिन् के हित मांई ॥

५

क्लेशो ऽधिकतरस् तेषाम्
अव्यक्ता ऽऽसक्त – चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर् दुःखम्
देहवद्भिर् अवाप्यते ॥

कष्ट उन्हें पर बहु अधिकाई
जेहि अगोचर महँ चित लाई ।
कि मुकि, अगोचर की गति पाना
देहवन्त लगि कठिन हि माना ॥

६

ये तु सर्वाणि कर्माणि
मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन
मां ध्यायन्त उपासते ॥

पर जे नर सब कर्मन् को ही
अर्पि मुझे मुझमें रत होही ।
चित्त अनन्य योग पहिं जे ही
ध्यान करत मम भजत मुझेहीं ॥

७

तेषां अहं समुद्धर्ता
मृत्यु – संसार – सागरात् ।
भवामि न चिरात पार्थ!
मय्यावेशित – चेतसाम् ॥

मै उनका उद्धारन हारा
मृति–मय–संसृति – सागर पारा ।
अर्जुन! तुरत होउँ उनका ही
रखे चित्त जे नित मुझ मांही ॥

८

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव
अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

मुझ ही में तुम चित्त लगावो
मुझ ही में निज बुद्धि समावो ।
तासु मिलहु तुम मेरे मांहीं
तनु तजने पर, संशय नाहीं ॥

९

अथ चित्तं समाधातुम्
न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यास – योगेन ततो
मां इच्छा ऽऽप्तुं धनंजय! ॥

पर यदि मुझमें चित्त समाने
शक्य न मानहु अचल रखाने ।
तो उस लगि अभ्यास करेहू
इच्छहु पार्थ! मुझे मिलने हू ॥

१०

अभ्यासे ऽप्यसमर्थो ऽसि
मत्कर्म – परमो भव ।
मदर्थं अपि कर्माणि
कुर्वन् सिद्धिं अवाप्स्यसि ॥

यदि अभ्यास पि करु सक नाहीं
तो मम हित नित कुरु कर्महीं ।
यदि मम हित अपि कर्म करेहू
तो भी अर्जुन! सिद्धि लहेहू ॥

११

अथैतदप्यशक्तोऽसि
कर्तुं मद्योग – माश्रितः ।
सर्व – कर्म – फल – त्यागम्
ततः कुरु यतात्मवान् ॥

मम हित कर्म पि करु सक नाहीं
तो मुझ अर्पण योग मिलाहीं ।
तासु, तजहु सब कर्म फलां हीं
करके निजको निज वश मांहीं ॥

१२

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्
ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्म-फल-त्यागस्
त्यागाच् छान्तिर् अनन्तरम् ॥

ज्ञान श्रेष्ठ अभ्यास हि पाहीं
ध्यान ज्ञान से बढ़कर आहीं ।
ध्यान कर्म-फल-त्याग कराई
शांति अखंड त्याग पहिं पाई ॥

१३

अद्वेष्टा सर्व – भूतानाम्
मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः
सम – दुःख – सुखः क्षमी ॥

द्वेष न करि किसि प्राणिन् का ही,
दया मित्रता रखि सब मांही, ।
अहंकार ममता रहिताना,
क्षमाशील, सुख दुःख समाना, ॥

१४

संतुष्टः सततं योगी
यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पित – मनो–बुद्धिर्
यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

योगी नित संतुष्ट रहाना,
निज संयमि, दृढ़ निश्चय बाना. ।
अर्पहि मुझे बुद्धि मन जोई,
सो मम भक्त मुझे प्रिय होई ॥

१५

यस्मान् नोद्विजते लोको
लोकान् नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्ष – भयोद्वेगैर्
मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

जिससे लोक घृणा करि नाहीं
जो न लोक से करे घृणा ही ।
क्रोध खेद मुद भय विनु जोई
सो मम भक्त मुझे प्रिय होई ॥

१६

अनपेक्षः शुचिर् दक्ष
उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भ – परित्यागी
यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

सावधान, शुचि, आस रखे ना,
उदासीन, कछु दुःख गिने ना, ।
कर्म सकाम तजे सब जोई,
सो मम भक्त मुझे प्रिय होई ॥

१७

यो न हृष्यति न द्वेष्टि
न शोचति न कांक्षति ।
शुभा ऽ शुभ – परित्यागी
भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥

जो नहिं हर्षत, द्वेषत नाहीं,
जो न अपेक्षत, शोचत नाहीं, ।
शुभ अरु अशुभ तजे सब जोई,
भक्तिमान् जो, प्रिय मम सोई ॥

१८

समः शत्रौ च मित्रे च
तथा माना ऽ प मानयोः ।
शीतोष्ण – सुख दुःखेषु
समः, संग – विवर्जितः ॥

गिने शत्रु अरु मित्र समाना,
मानि समान मान अपमाना, ।
शीत ऊष्ण सुख दुख सम माना,
सब महँ की आसक्ति तजाना, ॥

१९

तुल्य-निन्दा-स्तुतिर् मौनी
संतुष्टो येन केन चित् ।
अनिकेतः स्थिर-मतिर्
भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥

निन्दा स्तुति सम, मित भाषी जो,
मिले उसीमें संतोषी जो, ।
प्रीति न घरमें, स्थिर-मति जोई,
भक्तिमान नर प्रिय मम होई ॥

२०

ये तु धर्म्या ऽमृतं इदम्
यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा
भक्तास्ते ऽ तीव मे प्रियाः ॥

दोहा–यह वचनामृत धर्ममय,
कहि विधि सेवहिं जेहि ।
श्रद्धायुत, मुझ मांहि रत,
प्रिय अति भक्त हि तेहि ॥

ॐ तत् सत् इति

श्रीमद् – भगवद् – गीतासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म – विद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृ ष्णा र्जु न – सं वा दे
भक्ति – योगो – नाम
द्वा द शो ऽ ध्या यः ॥१२॥
श्री कृ ष्णा र्प ण
म स्तु ॥१२॥

श्री भगवान कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मकज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
भक्ति योग अस नाम कहाया
गीता महँ द्वादश अध्याया
करि हिन्दी गीता चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्ना गाई ॥१२॥

अध्याय तेरहवाँ

१ श्री भगवान् उवाच १

इदं शरीरं कौन्तेय! कह भगवान; पार्थ सुनु आना
क्षेत्रं इत्यभिधीयते । यह शरीर सो क्षेत्र बखाना ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः जो इहिं जाने उसे बताते
क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ क्षेत्रज्ञ हि अस उसके ज्ञाते ॥

२

क्षेत्रज्ञं चा ऽ पि मां विद्धि जानहु अरु क्षेत्रज्ञ मुझे हीं
सर्व – क्षेत्रेषु भारत! । पार्थ! जोइ सब क्षेत्रन में ही ।
क्षेत्र – क्षेत्रज्ञयोर् ज्ञानम् जो क्षेत्रज्ञ क्षेत्र का ज्ञाना
यत् तज् ज्ञानं मतं मम ॥ वही ज्ञान मेरा अस माना ॥

३

तत् क्षेत्रं यच् च यादृक् च कौन क्षेत्र वह? कौन प्रकारा?
यद् विकारि यतश्च यत् । कहँ से वह? अरु कौन विकारा? ।
स च यो यत्प्रभावश्च को क्षेत्रज्ञ? प्रभाव हि काही?
तत् समासेन मे शृणु ॥ सुनहु सार महँ सब मुझ पाहीं ॥

४

ऋषिभिर् बहुधा गीतम् बहु विध ऋषिन् पृथक् समझाया ·
छंदोभिर् विविधैः पृथक् । विविध वेद–छंदों महँ गाया ।
ब्रह्मसूत्र – पदैश चैव ब्रह्म–सूत्र के पद वचनों से
हेतुमद्भिर् विनिश्चितैः ॥ निश्चित अर्थ युक्ति सहितों से ॥

५

महा – भूतान्यहंकारो भू, जल, अनल, पवन, गगना, ही
बुद्धिर् अव्यक्तमेव च । अहंकार, बुधि, अव्यक्ता ही ।
इंद्रियाणि दशैकं च इक मन अरु दश इंद्रिन जेही
पंच चेन्द्रिय – गोचराः ॥ पांच विषय ज्ञानेंद्रिन के ही ॥

६

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम् सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, विकारा
संघातश्चेतना धृतिः । मेल करन, चेतन, बल धारा ।
एतत् क्षेत्रं समासेन क्षेत्रहि अस इकतीस प्रकारा
सविकारं उदाहृतम् ॥ कहा सार महँ सहित विकारा ॥

७

अमानित्वं, अदंभित्वम् निरभिमानता, दंभ अभावा,
अहिंसा, क्षान्ति,-आर्जवम् । क्षमा, अहिंसा, सरल स्वभावा, ।
आचार्योपासनं शौचम् गुरु जन सेवा, नित शुचिताई,
स्थैर्यं, आत्म - विनिग्रहः ॥ स्थिरता, अरु निज संयमताई, ॥

८

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् इंद्रिय - विषयन मांहि विरागा,
अनहंकार एव च, । अहंकार का करही त्यागा, ।
जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि- जन्म मरण अरु रोग बुढ़ापा
दुःख-दोषानुदर्शनम् ॥ देखहि दुःख दोष पहिं व्यापा, ॥

९

असक्तिर् अनभिष्वंगः- अनासक्ति, ममता कछु नाहीं
पुत्र-दार-गृहादिषु । सुत जाया घर आदिक मांहीं, ।
नित्यं सम - चित्तत्वम्- रखे चित्तकी नित समताही-
इष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ इष्ट अनिष्ट मिले सब मांहीं, ॥

१०

मयि चानन्य-योगेन- चित्त अनन्य योग के पाहीं
भक्तिर् अव्यभिचारिणी । अविचल भक्ति रखे मुझ मांहीं, ।
विविक्त-देश - सेवित्वम् नित एकान्त वास को सेवे,
अरतिर् जन - संसदि ॥ लोग भीड़ महँ प्रीति न लेवे, ॥

११

अध्यात्म ज्ञान – नित्यत्वम्
तत्त्व ज्ञाना ऽ र्थ – दर्शनम् ।
एतज् ज्ञानं इति प्रोक्तम
अज्ञानं यद् अतो ऽ न्यथा ॥

नित अध्यात्म ज्ञानको धारे,
तत्त्व ज्ञान का हेतु विचारे, ।
अस ये बीस ज्ञान पथ जाना
इन्ह विपरीत सोइ अज्ञाना ॥

१२

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि
यज् ज्ञात्वा ऽ मृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म्
न सत् तन् ना ऽ सदुच्यते ॥

जानन् जोग = ज्ञेय कहुँ सोई
लहे मोक्षको जानिय जोई ।
सो अनादि, पर ब्रह्म महाना,
ना सत् असत न जाइ बखाना, ॥

१३

सर्वतः पाणिपादं तत्
सर्वतो ऽ क्षि – शिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल् लोके
सर्वं आवृत्य तिष्ठति ॥

हाथ पाँव सब ओरहि ताके
शिर मुख नयनन् सब दिशि ताके ।
सकल दिशा महँ उसके काना
लोक मांहिं सब व्यापि रहाना ॥

१४

सर्वेन्द्रिय – गुणा ऽऽ भासम्
सर्वेन्द्रिय – विवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच् चैव
निर्गुणं गुण – भोक्तृ च ॥

जनु, सब इंद्रिय गुण युत दीसे
विरहित सकल इंद्रियां ही से ।
अति अलिप्त अरु जगत भरन्ता
निर्गुण, अरु गुण भोग भुगन्ता, ॥

१५

बहिर् अन्तश् च भूतानाम्
अचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयम्
दूरस्थं चा ऽ न्तिके च तत् ॥

अग जग के यह भीतर बाहर–
भरा हुआ, यह अचर, तथा चर, ।
सूक्ष्म तया नहिं जाना जाही,
यह अति दूर, निकट अति आही, ॥

१६

अविभक्तं च भूतेषु
विभक्तं इव च स्थितम्, ।
भूत-भर्तृ च तज् ज्ञेयम्
ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च, ॥

रहहि अखंड चराचर मांही
दीसत किन्तु विभाजित सा ही, ।
जानहु अग जग का यह धाता,
सब संहर्ता, अरु निर्माता, ॥

१७

ज्योतिषां अपि तज् ज्योतिस्,
त म सः परमुच्यते, ।
ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञानगम्यम्,
हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥

ज्योतिन् की अपि ज्योति हि होई,
तमसे परे कहावत सोई, ।
पाइ ज्ञानसे, ज्ञेय, रु ज्ञाना,
सब के हृदयन् मांहि रहाना, ॥

१८

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानम्
ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय
मद्भावायोप - पद्यते ॥

अस मैं तुम्हें क्षेत्र अरु ज्ञाना
तथा सार महँ ज्ञेय बखाना ।
जानहि अस मम भक्तहि जोई
मम स्वरूप को पावहि सोई ॥

१९

प्रकृतिं पुरुषं चैव
विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश च गुणांश चैव
विद्धि प्रकृति - संभवान् ॥

प्रकृति तथाहि पुरुष ये जानो
आदि रहित दोनों अपि मानो ।
सब गुण अरु विकार समुदायी
जानहु इन्हें प्रकृति उपजाई ॥

२०

कार्य - कारण - कर्तृत्वे
हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुख - दुःखानाम्
भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

तनु अरु गुण कर्तापन मांई
प्रकृति निमित्त हेतु कहलाई ।
सुख दुख के भोक्तापन मांई
जानहु कारण पुरुष कहाई ॥

२१

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि
भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसंगो ऽ स्य
सद्-असद्-योनि-जन्मसु ॥

यत, रहि पुरुष प्रकृति के मांही
प्रकृति जनित गुण भोगि सदा ही ।
संग पुरुष का गुणसे जैसे
भले बुरे लह जन्महिं तैसे ॥

२२

उपद्रष्टा ऽ नुमन्ता च
भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चा ऽ प्युक्तो
देहे ऽ स्मिन् पुरुषः परः ॥

केवल साक्षी, अनुमति दाता,
अर्पित भोक्ता, ईश्वर, धाता, ।
अरु परमात्मा जो कहलाई
अन्य पुरुष वह इस तनु मांई ॥

२३

य एवं वेत्ति पुरुषम्
प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानो ऽ पि
न स भूयो ऽ भिजायते ॥

अस जो परम पुरुष को जाने
अरु गुण सहित प्रकृति पहचाने ।
यद्यपि बर्तहि किसी प्रकारा
तदपि लहे ना जन्म दुबारा ॥

२४

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति
कोचिद् आत्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन
कर्मयोगेन चा ऽ परे ॥

देखत ध्यान पाहिं निज मांहीं
केतिक मन से निज रूपा हीं ।
सांख्य योग हठ योग हि पाहीं
कर्म योग पहिं कोइ तथा ही ॥

२५

अन्ये त्वेवं अजानन्तः
श्रुत्वा ऽ न्येभ्य उपासते ।
ते ऽ पि चा ऽ तितरन्त्येव
मृत्युं श्रुति – परायणाः ॥

दूजे अस जे जानत नाहीं
भजहिं सुनिय पर दुसरों पाहीं ।
वे अपि जाइ मृत्यु के पारा
रत हो श्रवण-भक्ति के द्वारा ॥

२६

यावत् संजायते किंचित्
सत्वं स्थावर – जंगमम् ।
क्षेत्र – क्षेत्रज्ञ – संयोगात्
तद् विद्धि भरतर्षभ ! ॥

जो जो कछु उत्पन्नहि होई
जड़ वा जंगम वस्तु हि कोई ।
सब क्षेत्रज्ञ क्षेत्र जुड़ने से
होवत अर्जुन ! जानहु ऐसे ॥

२७

समं सर्वेषु भूतेषु
तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तम्
यः पश्यति स पश्यति ॥

सकल चराचर मांहि समाना
वह परमेश्वर नित्य रहाना ।
सब नाशे, पर नशे न जोई
देखहि अस जो देखत सोई ॥

२८

समं पश्यन् हि सर्वत्र
समवस्थित – मीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मना SS त्मानम्
ततो याति परां गतिम् ॥

यत, जो लखि सर्वत्र समाना
ईश्वर को सब मांहि रहाना ।
सो नहिं निजको आप नशावे
अन्त काल गति उत्तम पावे ॥

२९

प्रकृत्यैव च कर्माणि
क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथा SS त्मानम्
अकर्तारं स पश्यति ॥

प्रकृति हि पाहिं कराये जाई
सबसे विविध कर्म समुदायी ।
आत्मा तासु अकर्ता होई
देखहि अस जो देखत सोई ॥

३०

यदा भूत–पृथग् भावम्
एकस्थं अनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारम्
ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

जग के भिन्न भिन्न सब भावा
देखहि जब इक मांहि समावा ।
अरु उस ही से सब विस्तारा
ब्रह्म होइ अस जानन हारा ॥

३१

अनादित्वात् निर्गुणत्वात्
परं आत्मा S यमव्ययः ।
शरीरस्थो S पि कौन्तेय !
न करोति न लिप्यते ॥

आदि रहित गुणरहित तयाही
आत्मा पर अविकारी आही ।
यद्यपि पार्थ ! रहे तनु मांही
तदपि करत ना लिपटत नाहीं ॥

३२

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्याद्
आकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रा S वस्थितो देहे
तथा SS त्मा नोपलिप्यते ॥

सर्व व्यापि आकाश यथाही
सूक्ष्मतया कहँ लिपटत नाहीं ।
तिमि तनु महँ सर्वत्र रहाना
आत्मा अपि कहिं नहिं लिपटाना ॥

३३

यथा प्रकाशयत्येकः
कृत्स्नं लोकं इमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नम्
प्रकाशयति भारत ! ॥

करे प्रकाशित पार्थ ! यथाही
एक सूर्य संपूर्ण जगाहीं ।
सकल क्षेत्र क्षेत्रज्ञ तथाही
करे प्रकाशित पूर्ण तयाही ॥

३४

क्षेत्र – क्षेत्रज्ञयोर् एवम्
अन्तरं ज्ञान – चक्षुषा ।
भूत – प्रकृति – मोक्षं च
ये विदुर् यान्ति ते परम् ॥

दोहा– भेद क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का
ज्ञान दृष्टि से जेहि ।
भूत प्रकृति से छूटना,
जानि मोक्ष लह तेहि ॥

ॐ तत् सत् इति

श्रीमद् – भगवद् – गीतासु
उ प नि ष त्सु
क्षेत्र – क्षेत्रज्ञ – योगो नाम
त्रयोदशो S ध्यायः

श्री भगवान् कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई
जो क्षेत्रज्ञ क्षेत्र कहलाया
सोइ त्रयोदश यह अध्याया ॥१३॥

अध्याय चौदहवाँ

१ श्री भगवान् उवाच १

परं भूयः प्रवक्ष्यामि — कह भगवान; कहहुँ पुनि आना
ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् । — ज्ञानों महँ अति उत्तम ज्ञाना ।
यज् ज्ञात्वा मुनयः सर्वे — जिसे जानकर सब मुनि पाई
परां सिद्धिं इतो गताः ॥ — परम सिद्धि को यहँ से जाई ॥

२

इदं ज्ञानं उपाश्रित्य — इसी ज्ञानका आश्रय पाके
मम साधर्म्यमागताः । — मम स्वरूप को पाये आके ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते — सृष्टि काल महँ जन्म न लेहीं
प्रलये न व्यथन्ति च ॥ — प्रलय कल्प महँ मृत्यु न तेहीं ॥

३

मम योनिर् महद्-ब्रह्म — महद्-ब्रह्म जो प्रकृति कहाई
तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । — सोइ योनि मम लगि, जिस मांई– ।
संभवः सर्वभूतानाम् — रखूँ गर्भ, तब सब उपजाई
ततो भवति भारत ! ॥ — पार्थ ! चराचर जो जग मांई ॥

४

सर्व – योनिषु कौन्तेय ! — हे अर्जुन ! सब योनिन् मांई
मूर्तयः संभवन्ति याः । — विविध मूर्तियां जे उपजाई ।
तासां ब्रह्म महद् योनिर् — महद् ब्रह्म उन सबकी माता
अहं बीज प्रदः पिता ॥ — तथा पिता मैं बीज प्रदाता ॥

५

सत्वं रजस् तम इति — सात्विक राजस तामस एही
गुणाः प्रकृति – संभवाः । — प्रकृति पाहिं गुण तीनु भये ही ।
निबध्नन्ति महाबाहो ! — बाँधत अर्जुन ! ये तनु मांही
देहे देहिन – मव्ययम् ॥ — देहि हिं जो अविनाशी आही ॥

६

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्
प्रकाशकं अनामयम् ।
सुख – संगेन बध्नाति
ज्ञान संगेन चा ऽ नघ! ॥

निर्मलतासु सत्व तिन मांई
बुद्धि प्रकाशक दुःख नशाई ।
बांधत सुख महँ संग कराके
जान कारि महँ प्रीति बढाके ॥

७

रजो रागात्मकं विद्धि
तृष्णा – संग – समुद्भवम् ।
तन् निबध्नाति कौन्तेय!
कर्म – संगेन देहिनम् ॥

विषय प्रीतिमय राजस जानो
संग कामना को उपजानो ।
पार्थ! देहिको बांधत जाई
कर्म मांहि आसक्ति कराई ॥

८

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि
मोहनं सर्व – देहिनाम् ।
प्रमादा ऽऽ लस्य–निद्राभिस्
तन् निबध्नाति भारत! ॥

जानहु तम अज्ञान सृजावे
सब देहिन्को मोह करावे ।
भ्रान्ति नींद अरु आलस पाहीं
पार्थ! देहिको बांधि सदाही ॥

९

सत्वं सुखे संजयति
रजः कर्मणि भारत! ।
ज्ञानं आवृत्य तु तमः
प्रमादे संजयत्युत ॥

सात्विक गुण सुख महँ चिपकाई
पार्थ! रजो गुण कर्मन् मांई ।
तामस तथा छिपाकर ज्ञाना
भूल चूक महँ सदा लगाना ॥

१०

रजस्तमश्च ऽ भिभूय
सत्वं भवति भारत! ।
रजः सत्वं तमश्चैव
तमः सत्वं रजस्तथा ॥

राजस तामस गुणहिं दबाई
सत्व प्रभावित अरु बनजाई ।
दबा सत्व तम, रज बढ़जाई
धँसा सत्व रज, तम अधिकाई ॥

११

सर्वद्वारेषु देहे ऽस्मिन्
प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा, तदा विद्याद्
विवृद्धं सत्वमित्युत ॥

इस तनुके सब इंद्रिन मांई
होइ प्रकाश हि चेतन ताई ।
उपजे ज्ञान तथा, तब जाने
बढ़ा सत्व गुण निश्चित माने ॥

१२

लोभः, प्रवृत्तिरारंभः—
कर्मणां, अशमः, स्पृहा, ।
रजस्येतानि जायन्ते
विवृद्धे भरतर्षभ ! ॥

लालच, हलचल, कर्म सकामा,
इच्छा, तृप्ति न इंद्रियग्रामा, ।
हे अर्जुन ! ये जब उपजाने
बढ़ा रजोगुण तब, अस माने ॥

१३

अप्रकाशो ऽ प्रवृत्तिश् च
प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते
विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥

जड़े जड़त्व रु निष्क्रियता ही
अनवधानता मोह तथा ही ।
ये सब लक्षण तब बनजाई
पार्थ ! तमोगुण जब अधिकाई ॥

१४

यदा सत्वे प्रवृद्धे तु
प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदांल्लोकान्
अमलान् प्रतिपद्यते ॥

बढ़े हुए सात्विक गुण मांई
देह धारि यदि तनु तजि जाई ।
तब जहँ उत्तम ज्ञाते जावे
ऐसे पुण्य लोक वह पावे ॥

१५

रजसि प्रलयं गत्वा
कर्म – संगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस् तमसि
मूढ़ – योनिषु जायते ॥

बढ़े रजोगुण महँ लय पावे
कर्म संगि नर–जन्म मिलावे ।
प्रबल तमोगुण महँ मरजाई
पशु–योनिन् महँ जन्महिं पाई ॥

१६

कर्मणः सुकृतस्या ऽ हुः
सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखम्
अज्ञानं तमसः फलम् ॥

पुण्य कर्म का फल जो होई
सात्विक निर्मल कहिजे सोई ।
रजस कर्म का फल दुख नाना
अरु तामस का फल अज्ञाना ॥

१७

सत्वात् संजायते ज्ञानम्
रजसो लोभ एव च ।
प्रमाद – मोहौ तमसो
भवतो ऽ ज्ञानमेव च ॥

उपजे ज्ञान सत्व गुण पाहीं
राजस पहिं लोभ हि उपजाही ।
मोह प्रमाद तथा अज्ञाना
पार्थ! तमोगुण पहिं उपजाना ॥

१८

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था
मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्य – गुण – वृत्तिस्था
अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

सत्व गुणिन् ऊंचे पद जाई
राजस मध्य=नर–लोक मिलाई ।
अधम तमोगुण महँ बर्तना
वे तामस गति नीच लहाना ॥

१९

ना ऽ न्यं गुणेभ्यः कर्तारम्
यदा द्रष्टा ऽ नु–पश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति
मद्भावं सो ऽ धि–गच्छति ॥

नाहिं गुणोंसे कर्ता आना
देखहि अस जब तत्व–सुजाना ।
परे गुणोंसे निजको जोई
जानहि, भाव लहे मम सोई ॥

२०

गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन्
देही देह – समुद्भवान् ।
जन्म – मृत्यु – जरा–दुःखैर्
विमुक्तो ऽ मृतमश्नुते ॥

इन्ह त्रिगुणों को नर तर जावे
जे गुण तनु के साथहि आवे ।
जन्म मरण बुढ़ापन के ही
दुख से छूटि मुक्ति को लेही ॥

२१	अर्जुन उवाच	२१
कैर् लिंगैस् त्रीन् गुणान् एतान्		पूछि पार्थ! का उसके चीन्हा?
अतीतो भवति प्रभो! ।		इन्ह त्रिगुणोंको जो तर लीन्हा ।
किमाचारः? कथं चैतांस्		प्रभु! उसके आचार हि कैसे?
त्रीन् गुणान् अति वर्तते? ॥		इन्ह त्रिगुणोंको लांघत कैसे? ॥
२२	श्री भगवान् उवाच	२२
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च		कह हरि; चेतन, हलचल, मोहा
मोहं एव च पांडव! ।		सत, रज, तम के कार्य प्रोहा ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि		प्राप्त हुये तो द्वेषत नाहीं,
न निवृत्तानि कांक्षति ॥		नष्ट हुये तो इच्छत नाहीं, ॥
२३		
उ दा सी न व दा सी नो		उदासीन इव बैठे सोई,
गुणैर् यो न विचाल्यते ।		नाहिं गुणोंसे विचलित होई, ।
गुणा वर्तन्त इत्येव		गुण बर्तत अस ही लखि सोई,
यो ऽ वतिष्ठति नेंगते ॥		स्वस्थ रहहि, कंपित नहिं होई, ॥
२४		
सम-दुःख-सुखः स्वस्थः		रह निजमें, सुख दुःख समाना,
सम-लोष्टा ऽ श्म-कांचनः ।		कनक ढेल पत्थर सम माना, ।
तुल्य-प्रिया ऽ प्रियो धीरस्		प्रिय अप्रिय सम गिने सुजाना,
तुल्य-निन्दा ऽऽ त्म-संस्तुतिः ॥		निज निन्दा स्तुति लखे समाना, ॥
२५		
माना ऽ पमानयोस् तुल्यस्		मानि समान मान अपमाना,
तुल्यो मित्रा ऽ रिपक्षयोः ।		गिने मित्र रिपु पक्ष समाना, ।
सर्वा ऽऽ रंभ – परित्यागी		कर्म सकाम तजे सब जोई,
गुणा ऽ तीतः स उच्यते ॥		गुणातीत कहलावत सोई ॥

२६

मां च योऽव्यभिचारेण
भक्ति – योगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान्
ब्रह्म – भूयाय कल्पते ॥

अविचल भक्ति योग के द्वारा
भजे मुझे जो भक्त उदारा ।
इन्ह त्रिगुणों को तरकर सोई
ब्रह्म रूप लगि योग्य हि होई ॥

२७

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्
अमृतस्याऽव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य
सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

दोहा–मैं हूं आश्रय ब्रह्म का
अक्षय मोक्ष निधान ।
मूल सनातन धर्मका
सुख अखंड का स्थान ॥

ॐ तत् सत् इति

श्रीमद् – भगवद् – गीतासु
उपनिषत्सु
ब्रह्म – विद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन – संवादे
गुणत्रय-विभाग योगो नाम
चतुर्–दशोऽध्यायः ॥१४॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥१४॥

श्री भगवान कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मक ज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
त्रिगुण विभाग-योग कहलाया
अस यह चौदहवाँ अध्याया
करि हिन्दी गीता चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्ना गाई ॥१४॥

अध्याय पंद्रहवाँ

१ श्री भगवान् उवाच १

ऊर्ध्वमूलं अधःशाखम् कह हरि, ऊपर जड़ तल शाखा
अश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । जग यह संतत पीपल भाखा ।
छंदांसि यस्य पर्णानि वेद मंत्र ही जिसके पाना
यस्तं वेद स वेदविद् ॥ जान वेद सो अस जो जाना ॥

२

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा नीचे ऊपर शाखा छाई
गुणप्रवृद्धा विषय – प्रवालाः । पल्लव विषय हिं त्रिगुण बढ़ाई ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि जड़ का नीचे होइ पसारा
कर्मा ऽनुबंधीनि मनुष्य–लोके ॥ नर जग मांहिं कर्म अनुसारा ॥

३

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते अरु इह इसका रूप न पाई
ना ऽन्तो न चादिर् न च संप्रतिष्ठा । नहिं आधार आदि अन्ताई ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढ – मूलम् इस गहरी जड़ पीपल को ही
असंग – शस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ काटि असंग शस्त्र दृढ़ सों ही ॥

४

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यम् तब उस पदका पता लगावे
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः । जहाँ जाइ पुनि इह नहिं आवे ।
तमेव चा ऽऽ द्यं पुरुषं प्रपद्ये आद्य पुरुष उसिको शरणावैं
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ प्रकृति पुरानी जो फैलावे ॥

५

निर्मान-मोहा जित-संग-दोषा मान मोह सँग दोष विहीना
अध्यात्मनित्या विनिवृत्त–कामाः । अति निरिच्छ,निजमहँ नित लीना ।
द्वन्द्वैर् विमुक्ताः सुख-दुःखसंज्ञैर् सुख दुख नामक द्वन्द्व तजाना
गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ पद अविनाशि अमूढ़ लहाना ॥

६

न तद् भासयते सूर्यो
न शशांको न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते
तद् धाम परमं मम ॥

जिमको सूर्य प्रकाशत नाहीं
नाहिं चंद्र नहिं अग्नि तथा ही ।
जहाँ जाइ पुनि लौटत नाहीं
अस सो धाम परम मम आहीं ॥

७

ममैवांशो जीवलोके
जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि
प्रकृति-स्थानि कर्षति ॥

अँश सनातन जो मेरा ही
होवत जीव जीव जग मांहीं
मन सह छउ ज्ञानेन्द्रिन जेही
रहे प्रकृति महँ, खींचत तेहीं ॥

८

शरीरं यद् अवाप्नोति
यच्चाऽप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति
वायुर् गंधान् इवाऽऽशयात् ॥

ईश्वर अँश जीव जब जोई
घरे देह अरु त्यागत होई ।
तब छउ इंद्रिन गहि आ-जाही
पवन गंध जिमि पुष्पन पाहीं ॥

९

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च
रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश् चाऽयम्
विषयान् उपसेवते ॥

त्वचा नयन अरु रसना काना
नाक तथा मन पार्थ सुजाना! ।
इन्ह सब में रहि इनके द्वारा
भोगत जीव विषय संसारा ॥

१०

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि
भुंजानं वा गुणाऽन्वितम् ।
विमूढा नाऽनुपश्यन्ति
पश्यन्ति ज्ञान-चक्षुषः ॥

तजि तनु वा अपि रहि तनु मांहीं
सुख दुख युत वा लह विषयांहीं ।
उमे मूढ़ मति लखि सक नाहीं
ज्ञान दृष्टि के देखत ताहीं ॥

११

यतन्तो योगिनश्चैनम्
पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो
नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

योगी यतन करत अरु जेही
लखत अँश मम स्थित निजमेंही ।
अवशि-चित्त अपि यतन कराना
अविवेकी इहिं लखि न सकाना ॥

१२

यदादित्यगतं तेजो
जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ
तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

अरु यह तेज सूर्य महँ जोई
सब जग जासु प्रकाशित होई ।
अरु जो चंद्र अग्नि महँ जोई
जानु तेज सो सब मम होई ॥

१३

गामाविश्य च भूतानि
धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः
सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥

प्रविशि भूमि महँ चराचरों को
निज बलसे मैं धारूँ सबोंको ।
पोषहुँ सकल वनस्पति जोई
रसमय सोमरूप मैं होई ॥

१४

अहं वैश्वानरो भूत्वा
प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः
पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

मैं वैश्वानर अग्नि हि होके
रहूँ जठर महँ सब जीवोंके ।
प्राण अपान युक्त बन जाऊँ
चार भाँतिका अन्न पचाऊँ ॥

१५

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

सब के हृदय मांहि मम वासा
मोसुं ज्ञान स्मृति संशय नासा ।
गात वेद सब मुझे इकान्ता
वेद ज्ञान मैं, किय वेदान्ता ॥

१६

द्वाविमौ पुरुषौ लोके
क्षरश्चा ऽक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि
कूटस्थो ऽक्षर उच्यते ॥

जग के मांहि पुरुष ये दोई
क्षर अरु अक्षर कहिजे जोई ।
सकल विनाशि – भूत क्षर होई
रहे रास महँ, अक्षर सोई ॥

१७

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः
परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रय – माविश्य
बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

उत्तम पुरुष तु जानहु आना
परमात्मा अस जिसे बखाना ।
व्यापि लोक तिहुं पोषत जोई
सो अविनाशी ईश्वर होई ॥

१८

यस्मात् क्षरमतीतो ऽहम्
अक्षराद् अपि चोत्तमः ।
अतो ऽस्मि लोके वेदे च
प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

जो कि परे मैं क्षरसे होऊँ
अक्षरसे भी उत्तम होऊँ ।
तासु वेद अरु जगमें ताता !
मैं 'पुरुषोत्तम' अस विख्याता ॥

१९

यो मां एवं असंमूढो
जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद् भजति माम्
सर्व – भावेन भारत ! ॥

मोह रहित हो ऐसे जोहीं
जाने पुरुषोत्तम मुझको ही ।
सब ज्ञाता वह भजन मुझेही
हे अर्जुन ! सब भावन् से ही ॥

२०

इति गुह्यतमं शास्त्रम्
इदं उक्तं मया ऽनघ ! ।
एतद् बुध्द्वा बुद्धिमान् स्यात्
कृतकृत्यश्च भारत ! ॥

दोहा—परम गुह्य अस शास्त्र यह,
कहा पार्थ ! मैं जोइ ।
बुद्धिमान् हो जानि यह,
पार्थ ! धन्य अरु होइ ॥

ॐ तत् सत् इति

श्रीमद् – भगवद् – गीतासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म – विद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृ ष्णा र्जु न – सं वा दे
पुरुषोत्तम – योगो नाम
पंच – दशो ऽ ध्यायः
श्री कृ ष्णा र्प ण
म स्तु ॥१५॥

श्री भगवान कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मकज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
जो पुरुषोत्तम योग कहाया
सो यह पंद्रहवाँ अध्याया
करि हिन्दी गीता चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्ना गाई ॥१५॥

अध्याय सोलहवाँ

१ श्री भगवान् उवाच १

अभयं, सत्व – संशुद्धिर्,
ज्ञान – योग – व्यवस्थितिः; ।
दानं, दमश्च, यज्ञश्च,
स्वाध्यायस्, तप, आर्जवम् ॥

कह हरि, अभय, हृदय शुचिताई
ज्ञान योग दुइमहँ स्थिरताई, ।
यज्ञ, दान, निज संयम ताई,
तप, सद् ग्रंथ पठन, ऋजुताई ॥

२

अहिंसा, सत्यमक्रोधम्,
त्यागः शान्तिर्, अपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वम्
मार्दवं, ह्रीर्, अचापलम् ॥

सत्य, अहिंसा, क्रोध करेना
त्याग, शान्ति, निन्दा हि कहेना,
दया प्राणि महँ, ना ललचाना,
मृदुता, लज्जा, चंचलता ना, ॥

३

तेजः, क्षमा, धृतिः, शौचम्
अद्रोहो ना ऽ तिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीम्
अभिजातस्य भारत ! ॥

धीरज, तेज, क्षमा, शुचिता, ही
द्रोह रहित, अति मान न चाही ।
गुण छब्बीस उमीके होई
दैवि प्रकृति महँ जन्मत जोई ॥

४

दम्भो दर्पो ऽ भिमानश्च
क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चा ऽ भिजातस्य
पार्थ! संपदमासुरीम् ॥

दंभ घमंड तथा अभिमाना
बचन कठोर क्रोध अज्ञाना ।
ये सब लक्षण उमके होई
असुर प्रकृति महँ जन्मत जोई ॥

५

दैवी संपद् विमोक्षाय
निबंधायाऽऽ सुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीम्
अभिजातो ऽ सि पांडव! ॥

दैवि प्रकृति सो बंध छुटानी
आसुरि बंधन कारक मानी ।
पार्थ! शोक तुम तौ न करेहू
दैवि प्रकृति महँ जन्म लहेहू ॥

६

द्वौ भूत सर्गौ लोकेऽस्मिन्
दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त
आसुरं पार्थ! मे शृणु ॥

दुइ विध प्राणि–सृष्टि जगमाँई
देव तथा असुरन् की नाँई ।
दैवि सृष्टि मैं कहि विस्तारा
सुनो पार्थ! अब असुर प्रकारा ॥

७

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च
जना न विदुरासुराः ।
न शौचं ना ऽपि चाचारो
न सत्यं तेषु विद्यते ॥

किम करना अरु किम तजना ही
असुर प्रकृति जन जानत नाहीं ।
नहिं आचार नाहिं शुचिता ही
तथा सत्य न वसत तिन माँहीं ॥

८

असत्यं अप्रतिष्ठं ते
जगद् आहुर् अनीश्वरम् ।
अपरस्पर – संभूतम्
किं अन्यत् काम–हैतुकम् ॥

कह वे जग असत्य मय सारा
बिनु ईश्वर अरु बिनु आधारा ।
जनन परस्पर से सब होई
काम हि कारण अन्य न कोई ॥

९

एतां दृष्टिं अवष्टभ्य
नष्टा ऽऽत्मानो ऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्र – कर्माणः
क्षयाय जगतो ऽहिताः ॥

इस मतको हठसे गहि लेही
नष्ट स्वभाव अल्प मति के ही ।
जग रिपु निष्ठुर–कर्म–कराने
उद्यत होवत जगत नशाने ॥

१०

कामं आश्रित्य दुष्पूरम्
दंभ – मान–मदा ऽन्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वा ऽसद् ग्राहान्
प्रवर्तन्ते ऽशुचिव्रताः ॥

अति दुर्लभ अस भोग चहाने
दंभ मान अभिमान कराने ।
मोह पाहि हठ दुष्ट धराने
अशुचि व्रतों महँ नित बर्ताने ॥

११

चिन्तां अपरिमेयां च
प्रलया ऽन्तां उपाश्रिताः
कामोपभोग – परमा
एतावद् इति निश्चिताः ॥

अरु भोगार्थ करत अति चिन्ता
जो ना मिटे मरण पर्यन्ता ।
विषय-भोग महँ अतिशय लीना
"यहिं सब कुछ" अस निश्चय कीना ॥

१२

आशा पाश-शतैर् बद्धाः
काम – क्रोध – परायणाः ।
ईहन्ते काम – भोगा ऽर्थम्
अन्यायेना ऽर्थ – संचयान् ॥

बँधे सैंकड़ों आशा पाहीं
काम क्रोध महँ मग्न सदा ही ।
इच्छित भोग भोगने तांई
तजिय नीति धन रास मिलाई ॥

१३

इदं अद्य मया लब्धम्
इदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदं अस्तीदमपि मे
भविष्यति पुनर् धनम् ॥

यह तो मैंने आज मिलाया
मिलाउँगा अरु वह मन भाया ।
यह तो धन अरु है ही मेरा
होवहि वह मम बहुरि घनेरा ॥

१४

असौ मया हतः शत्रुर्
हनिष्ये चा ऽपरान् अपि ।
ईश्वरो ऽहं अहं भोगी
सिद्धो ऽहं बलवान् सुखी ॥

मैंने यह रिपु मार गिराया
मारहुँ और भि शत्रु निकाया ।
हूँ मैं स्वामी भोगी मैं हूँ
सिद्ध सुखी बलवान् पि मै हूँ ॥

१५

आढ्यो ऽभिजनवानस्मि
को ऽन्यो ऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य
इत्यज्ञान – विमोहिताः ॥

ऊँचे कुलका मैं धनवाना
मम समान को जगमें आना ।
करुँगा यज्ञ दान आनन्दा
कह अज्ञान पाहिं मतिमन्दा ॥

१६

अनेक-चित्त-विभ्रान्ता
मोह-जाल-समावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु
पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

भ्रान्त चित्त महँ बहुत प्रकारा
मोह जाल महँ फँसे अपारा ।
विषय भोग महँ अति चितकाई
अशुचि नरक महँ गिरत हिं जाई ॥

१७

आत्म संभाविताः स्तब्धा
धन-मान-मदान्विताः ।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते
दंभेनाऽविधिपूर्वकम् ॥

मतवाले निजको बहुमानी
धन मद से युत अति अभिमानी ।
यज्ञ करत वे नाम हि लागी
आडम्बर से सब विधि त्यागी ॥

१८

अहंकारं बलं दर्पम्
कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्म-पर-देहेषु
प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥

अहंकार, हठ, अति अभिमाना
क्रोध काम महँ मग्न रहाना ।
निज अरु पर तनु महँ स्थित मेरी
मत्सर निन्दा करत घनेरी ॥

१९

तान् अहं द्विषतः क्रूरान्
संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभान्
आसुरीष्वेव योनिषु ॥

मैं उन निष्ठुर द्वेष-करोंको
पापी नरन् मांहि अधमोंको ।
गेरुँ सतत संसृति महँ ताहीं
असुरन् की ही योनिन् मांहीं ॥

२०

आसुरीं योनिमापन्ना
मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय !
ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

असुरन् की वे योनि मिलाई
मूढ़ जन्म जन्मांतर मांई ।
अर्जुन! मुझको बिनु ही पाई
अधम अधमतर गतिको जाई ॥

२१

त्रिविधं नरकस्येदम्
द्वारं नाशन – मात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्
तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत् ॥

द्वार नरक के तीन प्रकारा
जे ही आत्म–नसावन हारा ।
काम क्रोध अरु लोभहि होहीं
तासु तजे इन तीनूं को हीं ॥

२२

एतैर् विमुक्तः कौन्तेय !
तमो – द्वारैस् त्रिभिर् नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्
ततो याति परां गतिम् ॥

पार्थ ! मुक्त जो नर इनसे हीं
द्वार नरक के तीनों जे ही ।
वह कल्याण करे निज का ही
तासु परम गति को अरु जाही ॥

२३

यः शास्त्र – विधिमुत्सृज्य
वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिं अवाप्नोति
न सुखं न परां गतिम् ॥

करे शास्त्र विधि का जो त्यागा
अरु वर्तत निजमति अनुरागा ।
कबहुँ सिद्धिको वह नहिं पावे
ना सुख ना गति परम मिलावे ॥

२४

तस्माच् छास्त्रं प्रमाणं ते
कार्या ऽकार्य – व्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्र – विधानोक्तम्
कर्म कर्तुं इहा ऽ र्हसि ॥

दोहा–तासु प्रमाण शास्त्र तुम्हें,
निर्णन काज अकाज ।
शास्त्र विहित विधि जानिके
उचित करन तव काज ॥

ॐ तत् सत् इति

श्रीमद् – भगवद् – गीतासु
उ प नि ष त्सु
दैवा ऽऽ सुर संपद् विभागयोगो
नाम षोडशो ऽ ध्यायः ॥१६॥

श्री भगवान् कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई
दैव असुर गुण भेद कहाया–
सो यह सोलहवाँ अध्याय॥१६॥

अध्याय सत्रहवाँ

१ अर्जुन उवाच १

ये शास्त्र – विधिमुत्सृज्य
यजन्ते श्रद्धया ऽ न्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण!
सत्वं आहो रजस्तमः ॥

पूछि पार्थ जे श्रद्धावाना
बिना शास्त्र विधि जानि, यजाना ।
कृष्ण! अवस्था उनकी कैसी
होइ सत्व वा रज तम जैसी ॥

२ श्री भगवान् उवाच २

त्रिविधा भवति श्रद्धा
देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव
तामसी चेति तां शृणु ॥

कह हरि; श्रद्धा तीन प्रकारा
मनुज स्वभाव जनित अनुसारा ।
सात्विक राजस तामस ऐसी
सुनहु पार्थ! वह होवहि जैसी ॥

३

सत्वा ऽ नुरूपा सर्वस्य
श्रद्धा भवति भारत! ।
श्रद्धामयो ऽ यं पुरुषो
यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

होवत अन्तःकरण समाना
श्रद्धा सबकी पार्थ सुजाना! ।
मानव यह श्रद्धामय आही
जिहिं जस श्रद्धा वह वैसाही ॥

४

यजन्ते सात्विका देवान्
यक्ष – रक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्च ऽ न्ये
यजन्ते तामसा जनाः ॥

सात्विक पूजन करत सुरोंका
राजस करत यक्ष असुरोंका ।
प्रेत भूतगण को अरु आना
पूजत जन वे तामस जाना ॥

५

अशास्त्र – विहितं घोरम्
तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भा ऽ हंकार – संयुक्ताः
काम – राग – बला ऽ न्विताः ॥

शास्त्र मांहिं जस नाहिं बखाना
जे जन तप अस घोर कराना
अहंकार पाखंड उपेता
इच्छा हठ आसक्ति समेता ॥

६

कर्षयंन्तः शरीरस्थम्
भूतग्रामं अचेतसः ।
मां चैवा ऽन्तः शरीरस्थम्
तान् विद्ध्यासुर-निश्चयान् ॥

करतहिं वे कृश निज तनु मांई
अविवेकी इंद्रिय समुदायी ।
पीड़त अंतर्यामि मुझे हीं
जानहु आसुर निश्चयि तेही ॥

७

आहारस्त्वपि सर्वस्य
त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानम्
तेषां भेदं इमं शृणु ॥

भोजन अपि प्रिय तीन प्रकारा
सबको होइ प्रकृति अनुसारा ।
यज्ञ और तप दान तथा ही
सुनहु भेद यह उन सबका ही ॥

८

आयुः - सत्व - बला ऽऽ रोग्य-
सुख - प्रीति - विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्विक - प्रियाः ॥

आयु तेज बल नीरुजताई
सुख प्रसन्नता जेहि बढ़ाई ।
भावन पौष्टिक रसयुत घी के
भोजन अस प्रिय सात्विक ही के ॥

९

कट्वम्ल - लवणा ऽत्युष्ण-
तीक्ष्ण - रूक्ष - विदाहिनः ।
आहारा रा ज स स्येष्टा
दुःख - शोका ऽऽ मय - प्रदाः ॥

अति हि ऊष्ण कटु खट्टा खारः
तीखा रूखा दाहन कारा ।
भोजन राजस को प्रिय होई
शोक रोग दुख दायक जोई ॥

१०

यातयामं गतरसम्
पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टं अपि चा ऽमेध्यम्
भोजनं तामस - प्रियम् ॥

ठंढा प्रहरोंका रसहीना
दुर्गंधित बासी रुचि हीना ।
झूंठा अरु अपवित्र हि जोई
भोजन तामस को प्रिय होई ॥

११

अफलाऽऽकांक्षिभिर् यज्ञो
विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यं एवेति मनः
समाधाय स सात्विकः ॥

जिसमें फलकी इच्छा नाहीं
विधि पूर्वक जो होमा जाही ।
लखि कर्तव्यहि, चित्त समाई
अस सो सात्विक यज्ञ कहाई ॥

१२

अभिसंधाय तु फलम्
दंभार्थं अपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ!
तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥

फलका लक्ष्य तु जिसमें होई,
अपि आडंबर लागि हि जोई, ।
यजा जाय अस अर्जुन! जोई
जानहु राजस यज्ञ हि सोई ॥

१३

विधि – हीनं असृष्टान्नम्
मंत्र – हीनं अदक्षिणम् ।
श्रद्धा – विरहितं यज्ञम्
तामसं परिचक्षते ॥

अन्न दान नहिं, विधि नहिं जामें,
मंत्र, दक्षिणा अपि नहिं जामें, ।
यजा जाय श्रद्धा बिनु जोई,
यज्ञ कहावत तामस सोई ॥

१४

देव – द्विज – गुरु – प्राज्ञ–
पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यं अहिंसा च
शारीरं तप उच्यते ॥

सुर-द्विज-गुरुजन-बुध - सन्माना,
शुचिता, ऋजुता = ना अकड़ाना, ।
ब्रह्मचर्य, हिंसा करि नाहीं,
अस ये कायिक तप कहलाही ॥

१५

अनुद्वेगकरं वाक्यम्
सत्यं प्रिय – हितं च यत् ।
स्वाध्यायाऽभ्यसनं चैव
वाङ्मयं तप उच्यते ॥

वचन जो न किसिको अकुलावे
प्रिय अरु हित कर सत्य बतावे ।
सद् ग्रन्थोंका पठन सदा ही
अस ये वाचिक तप कहलाही ॥

१६

मनः-प्रसादः सौम्यत्वम्
मौनं आत्मविनिग्रहः ।
भाव संशुद्धि रित्येतत्
तपो मानसमुच्यते ॥

मन प्रसन्नता, शान्त स्वभावा,
मित भाषण, मन वश महँ लावा, ।
मन भावों की अति शुचिताही,
अस ये मानस तप कहलाही ॥

१७

श्रद्धया परया तप्तम्
तपस् तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाऽऽकांक्षिभिर् युक्तैः
सात्विकं परिचक्षते ॥

अति श्रद्धा से तपि जो जाहीं
तनु मन वाचिक तप नर पाहीं ।
फल इच्छा बिनु, संतत जोई
सात्विक तप कहलावत सोई ॥

१८

सत्कार-मान-पूजार्थम्
तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तद् इह प्रोक्तम्
राजसं चलमध्रुवम् ॥

आदर, मान, प्रतिष्ठा, तांई
जो तप अरु पाखंड रचाई ।
करा जाय इह सो कहलाही
राजस, चंचल, स्थिर रहि नाहीं ॥

१९

मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत्
पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा
तत् तामसमुदाहृतम् ॥

मोह जनित हठसे तप जोही
अरु करि पीडा निज तनु कोही ।
पर-विनाश लगि अथवा जोई
तामस तप कहलावत सोई ॥

२०

दातव्यं इति यद् दानम्
दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च
तद् दानं सात्विकं स्मृतम् ॥

लखि कर्तव्य दान दें ताहीं
प्रति उपकार जासु चहि नाहीं ।
देश काल अरु पात्र बिचारी
दान वहहि सात्विक अनुसारी ॥

२१

यत् तु प्रत्युपकारा ऽर्थम्
फलं उद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टम्
तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥

पर जो इच्छहि प्रति उपकारा
पुनि वा फल उद्देश हिं धारा ।
मन महँ दुःखित हो दे जोई
दान कहावत राजस सोई ॥

२२

अ-देश-काले यद् दानम्
अपात्रेभ्यश् च दीयते ।
असत्कृतं अवज्ञातम्
तत् तामसं उदाहृतम् ॥

अनुचित देश काल के मांहीं
दे कुपात्र को दान तथा हीं ।
तिरस्कार करि, बिनु सन्माना
देइ दान सो तामस जाना ॥

२३

"ॐ तत् सत्" इति निर्देशो
ब्रह्मणस् त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास् तेन वेदाश् च
यज्ञाश् च विहिताः पुरा ॥

"ॐ तत् सत्" अस तीन प्रकारा
नाम ब्रह्मके श्रुति अनुसारा ।
याजक ब्राह्मण वेद उसीने
आदि काल महँ यज्ञ हिं कीने ॥

२४

तस्मात् "ॐ" इत्युदाहृत्य
यज्ञ – दान – तपः – क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः
सततं ब्रह्म – वादिनाम् ॥

तासु "ॐ" अस नित उच्चारी
क्रिया यज्ञ तप दान कि सारी ।
कही शास्त्र महँ विधि जो जैसे
करतहिं ब्रह्मवादि नित तैसे ॥

२५

"तत्" इत्यनभि – संधाय
फलं, यज्ञ – तपः – क्रियाः ।
दान – क्रियाश् च विविधाः
क्रियन्ते मोक्ष – कांक्षिभः ॥

"तत्" यह शब्द तथा उच्चारी
फलका हेतु न मन महँ धारी ।
यज्ञ दान तप विविध क्रिया ही
मोक्ष चहाना करत सदा ही ॥

२६

सद्-भावे साधु-भावे च
"सत्" इत्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा
"सत्" शब्दः पार्थ! युज्यते ॥

अस्ति भाव शुभ भावहि मांई
"सत्" इसका प्रयोग करि जाई ।
तथा पुण्य कर्मन् के मांई
अर्जुन 'सत्' यह शब्द लगाई ॥

२७

यज्ञे तपसि दाने च
स्थितिः "सत्" इति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयम्
'सत्' इत्येवा ऽभिधीयते ॥

यज्ञ दान अरु तप के मांई
निष्ठा जो सो 'सत्' कहलाई ।
तथा कर्म उनलगि हो जेही
'सत्' असही कहलावत तेही ॥

२८

अश्रद्धया हुतं दत्तम्
तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असत् इत्युच्यते पार्थ!
न च तत् प्रेत्य नो इह ॥

दोहा-यज्ञ दान तप कर्म जे
श्रद्धा बिनु यदि होइ ।
असत् कहावत पार्थ! वे
इह पर लाभ न कोइ ॥

ॐ तत् सत् इति

श्रीमद्-भगवद्-गीतासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म-विद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृ ष्णा र्जु न - सं वा दे
श्रद्धात्रय विभाग योगो नाम
स प्त द शो ऽ ध्या यः
श्री कृ ष्णा र्प ण
म स्तु ॥१७॥

श्री भगवान कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मकज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
श्रद्धा त्रिविध योग कहलाया
सो सत्रहवँ। यह अध्याया
करि हिन्दी गीता। चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्न गाई ॥१७॥

अध्याय अठारहवाँ

१ अर्जुन उवाच १

संन्यासस्य महाबाहो ! बोले अर्जुन; जानन चाहूं
तत्त्वं इच्छामि वेदितुम् । मैं संन्यास तत्त्व बड बाहू ! ।
त्यागस्य च हृषीकेश ! तत्त्व त्यागका अरु भगवाना !
पृथक् केशि – निषूदन ! ॥ अलग अलग कहु केशि नशाना ॥

२ श्री भगवान् उवाच २

काम्यानां कर्मणां न्यासम् कह हरि; कर्म सकाम विहाना
'संन्यासं' कवयो विदुः । कविजन सो 'संन्यास' बखाना ।
सर्व – कर्मफल – त्यागम् सब कर्मों के फल तजना ही
प्राहुस्त्यागं' विचक्षणाः ॥ बुधजन कहते 'त्याग' हि ताहीं ॥

३

त्याज्यं दोष – वदित्येके कर्म, दोष जिमि, तजना होई
कर्म प्राहुर् मनीषिणः । कहते अस अति पंडित कोई ।
यज्ञ – दान – तपः – कर्म यज्ञ दान तप कर्म तु कोई
न त्याज्यं इति चा ऽ परे ॥ कहते तजना योग्य न होई ॥

४

निश्चयं शृणु मे तत्र त्याग मांहि मम निश्चय जोई
त्यागे भरत सत्तम ! । सुनहु धनंजय ! मुझसे सोई ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! पार्थ ! त्याग यत तीन प्रकारा
त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ बर्णा कर्ताके अनुसारा ॥

५

यज्ञ – दानं – तपः – कर्म यज्ञ दान तप ये कर्मा ही
न त्याज्यं, कार्यमेव तत् । योग्य न तजना, कीजे ताहीं ।
यज्ञो दानं तपश्चैव यज्ञ दान अरु तप ये सारे
पावनानि मनीषिणाम् ॥ ज्ञानि जनोंके पावन हारे ॥

६

एतान्यपि तु कर्माणि
संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ!
निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

तासु यज्ञ तप दान क्रिया ही
तजिय सगं अरु फल इच्छाहीं ।
करना योग्य हि अस मत मेरा
अर्जुन! निश्चित श्रेष्ठ घनेरा ॥

७

नियतस्य तु संन्यासः
कर्मणो नोप – पद्यते ।
मोहात् तस्य परित्यागस्
तामसः परि – कीर्तितः ॥

पर हो कर्म नियोजित जोई
उसका त्याग योग्य नहिं होई ।
त्याग मोह पहिं उसका जोई
तामस त्याग कहावत सोई ॥

८

दुःखं इत्येव यत् कर्म
काय--क्लेश--भयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागम्
नैव त्याग–फलं लभेत् ॥

तजे कर्म जो दुःख हि मानी
देह कष्ट के भयसे प्रानी ।
सो अस राजस त्याग कराना
कबहुँ त्याग का फल नहिं पाना ॥

९

कार्यं इत्येव यत् कर्म
नियतं क्रियते ऽर्जुन! ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव
स त्यागः सात्विको मतः ॥

किन्तु मानि कर्तव्य करे ही
पार्थ! नियुक्त कर्म निजके ही ।
त्याग, संग अरु फल का जोई
माना सात्विक त्याग हि सोई ॥

१०

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म
कुशले ना ऽनुषज्जते ।
त्यागी सत्व – समाविष्टो
मेधावी छिन्न – संशयः ॥

कठिन कर्म को द्वेषत नाहीं
सुकर कर्म महँ चिपकत नाहीं ।
त्यागी सात्विक गुण महँ लीना
बुद्धिवान सो संशय हीना ॥

११

न हि देह भृता शक्यम्
त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म – फल – त्यागी
स त्यागीत्यभिधीयते ॥

कारण, देह धारि नर पाहीं
शक्य न सकल कर्म तजना हीं ।
तजे कर्म के फल पर जोई
त्यागी अस कहलावत सोई ॥

१२

अनिष्टं इष्टं मिश्रं च
त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्य – त्यागिनां प्रेत्य
न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥

अच्छे बुरे मिश्र अनुसारा
कर्मन् के फल तीन प्रकारा ।
लह परत्र फल जो तजि नाहीं
पर जो त्यागे सो कहुं नाहीं ॥

१३

पंचैतानि महाबाहो!
कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि
सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥

पार्थ! पांच है कारण जेही
जान लेहु तुम मुझसे तेहीं ।
सांख्य शास्त्र महँ जिन्हें बखाने
सब कर्मन् को सिद्ध कराने ॥

१४

अधिष्ठानं तथा कर्ता
करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा
दैवं चैवात्र पंचमम् ॥

कर्ता अरु आधार ठिकाना
भिन्न भिन्न अस साधन नाना ।
बहु प्रकार की विविध क्रियाहीं
दैव पांचवा अरु इन मांहीं ॥

१५

शरीर-वाङ्-मनोभिर् यत्
कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा
पंचैते तस्य हेतवः ॥

देह वचन वा मनसे कोई
कर्मारंभ करत नर जोई ।
नीति अनीति युक्त वा सोई
पांच हेतु ये उसके होई ॥

१६

तत्रैवं सति कर्तारम्
आत्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृत – बुद्धित्वात्
न स पश्यति दुर्मतिः ॥

ऐसी स्थिति महँ मानहि जोही
कर्ता केवल पर निज को ही ।
सो संस्कार हीन मति पाहीं
तत्त्व तु दुर्मति जानत नाहीं ॥

१७

यस्य नाऽहंकृतो भावो
बुद्धिर् यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमांल् लोकान्
न हन्ति न निबध्यते ॥

मैं कर्ता अस मानि न जोई
जिसकी बुद्धि लिप्त नहिं होई ।
इन्ह लोगन् को यदि वह मारे
तदपि बंधे ना, ना वह मारे ॥

१८

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता
त्रिविधा कर्म – चोदना ।
करणं कर्म कर्तेति
त्रिविधः कर्म – संग्रहः ॥

ज्ञान ज्ञेय अरु जानन हारा
कर्म प्रेरणा तीन प्रकारा ।
साधन कर्ता कर्म तथा ही
त्रिविध कर्म के संग्रह आही ॥

१९

ज्ञानं कर्म च कर्ता च
त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुण – संख्याने
यथावच् छृणु तान्यपि ॥

ज्ञान कर्म अरु कर्ता के ही
होवत त्रिविध भेद गुणसे ही ।
बर्णे सांख्य शास्त्र महँ जे हीं
क्रमसे सुनु मुझसे अपि ते हीं ॥

२०

सर्व – भूतेषु येनैकम्
भावं अव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु
तज् ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥

जिससे सकल चराचर मांई
एक भाव अविकारि लखाई ।
लखहि अखंड विभाजित माहीं
जानहु सात्विक ज्ञान हि ताहीं ॥

२१

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानम्
नाना भावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु
तज् ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

किन्तु ज्ञान जो भिन्न तयाही
नाना भाव अलग अलगाही ।
सकल चराचर मांहि बताही
जानहु राजस ज्ञान हि ताहीं ॥

२२

यत् तु कृत्स्नवद् एकस्मिन्
कार्ये सक्तं अहैतुकम् ।
अतत्त्वा ऽर्थवदल्पं च
तत् तामसमुदाहृतम् ॥

पर समस्त जिमि जो चिपकाही
एक कार्य महँ हेतु बिना ही ।
बिना तत्त्व का अल्प रु जोई
तामस ज्ञान कहावत सोई ॥

२३

नियतं संगरहितम्
अरागद्वेषतः कृतम् ।
अफल – प्रेप्सुना कर्म
यत् तत् सात्त्विकमुच्यते ॥

कर्म नियोजित संग बिहाई
प्रीति द्वेष बिनु जो करि जाई ।
फल मिलने की इच्छा नाहीं
अस सो सात्विक कर्म कहाही ॥

२४

यत् तु कामेप्सुना कर्म
साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासम्
तद् राजस – मुदाहृतम् ॥

पर, फल इच्छा जिसमें होई
अहंकार युत पुनि वा सोई ।
होइ परिश्रम बहु जिसमाई
अस सो राजस कर्म कहाई ॥

२५

अनुबंधं क्षयं हिंसाम्
अनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहाद् आरभ्यते कर्म
यत् तत् तामसमुच्यते ॥

फल परिणाम हानि संहारा
निज बलका नहिं करइ बिचारा ।
करि आरंभ मोह वश जोई
कर्म कहावत तामस सोई ॥

२६

मुक्त – संगो ऽ नहं वादी
धृत्युत्साह – समन्वितः ।
सिध्द्य सिध्द्योर् निर्विकारः
कर्ता सात्विक उच्यते ॥

अनासक्त, जो निरहंकारी,
उत्साही, अरु धीरज धारी, ।
सिद्ध असिद्धि मांहिं सम भावा,
कर्ता सात्विक सोइ कहावा ॥

२७

रागी कर्मफल – प्रेप्सुर्
लुब्धो हिंसाऽऽत्मको ऽ शुचिः ।
हर्ष – शोका ऽ न्वितः कर्ता
राजसः परिकीर्तितः ॥

जो आसक्त, कर्मफल चाही,
लोभी, अशुचि, करत हिंसाहीं, ।
हर्ष शोक युत कर्ता जोई,
कहिजे कर्ता राजस सोई ॥

२८

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः
शठो नैष्कृतिको ऽ लसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च
कर्ता तामस उच्यते ॥

जो अनाड़ि, शठ, चंचल, मानी,
आलसि, करत पराई हानी, ।
रोना, कार्य विलंबी, जोई
कहिजे तामस कर्ता सोई ॥

२९

बुद्धेर् भेदं धृतेश् चैव
गुणतस् त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानं अशेषेण
पृथक्त्वेन धनंजय ! ॥

तथा बुद्धि अरु धृति के जेही
भेद त्रिविध गुणसे सुनु तेही ।
कहुँ तुमको संपूर्ण तयाही
अर्जुन ! अलग अलग सुनु ताहीं ॥

३०

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च
कार्या ऽ कार्ये भया ऽ भये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति
बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥

किम करना किम तजना जाने
काज अकाज अभय भय जाने ।
जाने बंध मोक्ष अरु जोई
पार्थ ! बुद्धि सो सात्विक होई ॥

३१

यया धर्मं अधर्मं च
कार्यं चाऽकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति
बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

जिसहि बुद्धि से धर्म अधर्मा
योग्य अयोग्य हि कर्म अकर्मा ।
इनका निर्णय जानि न जाही
पार्थ ! बुद्धि सो राजस आही ॥

३२

अधर्मं धर्ममिति
मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च
बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥

अरु अधर्म को धर्म हि जोई
मानहि तमसे व्यापित होई ।
सब बातन् को उलटा मानी
पार्थ ! बुद्धि सो तामस जानी ॥

३३

धृत्या यया धारयते
मनः-प्राणेन्द्रिय-क्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या
धृतिः सा पार्थ ! सात्विकी ॥

अरु जिस अविचल धृति के पाहीं
मन प्राणेन्द्रिन केरि क्रियाहीं ।
योग=भक्ति लगि सम धरि जाही
अर्जुन ! सो धृति सात्विक आही ॥

३४

यया तु धर्म-कामाऽर्थान्
धृत्या धारयते ऽर्जुन ! ।
प्रसंगेन फलाऽऽकांक्षी
धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

धर्म अर्थ अरु काम सदा ही
पार्थ ! धरे पर जिस धृति पाहीं ।
उत्कटता से फल अपि चाही
अर्जुन ! सो धृति राजस आही ॥

३५

यया स्वप्नं भयं शोकम्
विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा
धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥

जिस धृति से भय शोक विषादा
पकड़े निद्रा अरु उन्मादा ।
इनको दुर्मति छोड़त नाहीं
अर्जुन ! सो धृति तामस आही ॥

३६

सुखं त्विदानीं त्रिविधम्
शृणु मे भरतर्षभ ! ।
अभ्यासाद् रमते यत्र
दुःखान्तं च निगच्छति ॥

पर अब सुनु सुख तीन प्रकारा
अर्जुन ! मुझसे गुण अनुसारा ।
नित सेवन से जहँ रमजावे
नाश दुःख का जिसमहँ पावे ॥

३७

यत् तद् अग्रे विषमिव
परिणामे ऽमृतोपमम् ।
तत् सुखं सात्विकं प्रोक्तम्
आत्म – बुद्धि – प्रसादजम् ॥

प्रथम प्रथम जो विष जिमि होई
अन्त मांहि अमृत सम जोई ।
अस सो सात्विक सुख कहलाही
हो निज बुद्धि प्रसन्न तया ही ॥

३८

विषयेन्द्रिय – संयोगात्
यत् तद् अग्रे ऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषं इव
तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥

इंद्रिय विषय भोग पहिं जोई
प्रथम प्रथम अमृत सम होई ।
अन्त मांहिं पर विष जिमि जोई
सुख कहलावत राजस सोई ॥

३९

यद् अग्रे चा ऽनुबंधे च
सुखं मोहन – मात्मनः ।
निद्रालस्य – प्रमादोत्थम्
तत् तामस – मुदाहृतम् ॥

भोग समय अरु अन्त हि मांई
जो सुख निजको मोह कराई ।
अलस प्रमाद नींद पहिं होई
सुख कहलावत तामस सोई ॥

४०

न तद् अस्ति पृथिव्यां वा
दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर् मुक्तम्
यद् एभिः स्यात् त्रिभिर् गुणैः ॥

पृथिवी पर अस वस्तु हि नाहीं
नभ महँ पुनि वा देवन् मांहीं ।
प्रकृति जनित इन तिहिं गुण पाहीं
छूटी हो अस कछु अपि नाहीं ॥

४१

ब्राह्मण – क्षत्रिय – विशाम्
शूद्राणां च परंतप ! ।
कर्माणि प्रविभक्तानि
स्वभाव – प्रभवैर् गुणैः ॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य जनों के
हे अरि तापन! अरु शूद्रों के ।
कर्म विभाजे विविध प्रकारा
सहज स्वभाव जनित गुण धारा ॥

४२

शमो दमस् तपः शौचम्
क्षान्तिर् आर्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञान–मास्तिक्यम्
ब्रह्म – कर्म स्वभावजम् ॥

संयम, निग्रह, शुचिता, ज्ञाना,
क्षमा, सरलता, तप, विज्ञाना, ।
अरु ईश्वर महँ आस्तिकता ही
ब्राह्मण – कर्म स्वभावज आही ॥

४३

शौर्यं तेजो धृतिर् दाक्ष्यम्
युद्धे चा प्य S पलायनम् ।
दानं ईश्वर – भावश् च
क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

धीरज, तेज, शौर्य, चतुराई,
डटे युद्ध महँ, भाग न जाई, ।
शासन करना, अरु दे दाना,
क्षत्रिय कर्म स्वभावज जाना ॥

४४

कृषि – गौरक्ष्य – वाणिज्यम्
वैश्य – कर्म स्वभावजम् ।
परिचर्या SS त्मकं कर्म
शूद्रस्या S पि स्वभावजम् ॥

कृषि, गोपालन, अरु व्यापारा,
कर्म वैश्य–स्वभाव अनुसारा ।
तथा कर्म सेवा मय जोई
सहज स्वभाव शूद्र का होई ॥

४५

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः
संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्म – निरतः सिद्धिम्
यथा विन्दति तच् छृणु ॥

निज निज कर्मन् महँ रत जोई
सम्यक् सिद्धि लहे नर सोई ।
रत निज कर्मन् महँ नर कैसे
सिद्धि मिलावहि सुनु तुम तैसे ॥

४६

यतः प्रवृत्तिर् भूतानाम्
येन सर्वं इदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य
सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

जिससे अग जग सब उपजाई
जो इन सब महँ रहे समाई ।
निज कर्मन् से पूँजि उसे ही
मनुज मोक्ष की सिद्धि लहे ही ॥

४७

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः
परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभाव – नियतं कर्म
कुर्वन् ना SS प्नोति किल्विषम्

कम गुण अपि स्वधम अधिका ही
सु आचरित परधर्म हि पाहीं ।
कर्म स्वभाव–नियुक्त कराना
मानव कबहुँ न पाप लहाना ॥

४८

सहजं कर्म कौन्तेय!
सदोषं अपि न त्यजेत् ।
सर्वा SS रम्भा हि दोषेण
धूमेना S ग्निर् इवा SS वृताः ॥

कर्म स्वभाव जनित जो होई
दोष युक्त अपि तजइ न सोई ।
यत, सब कर्म दोष के पाहीं
सने, धूमसे अग्नि यथाहीं ॥

४९

असक्त – बुद्धिः सर्वत्र
जिता SS त्मा विगत स्पृहः ।
नैष्कर्म्य – सिद्धिं परमाम्
संन्यासेना S धिगच्छति ॥

नहिं आसक्त बुद्धि कछु मांहीं
जीते मन, कछु इच्छत नाहीं ।
विगत कर्मता सिद्धि उदारा
लहे कर्म – फल–त्याग हि द्वारा ॥

५०

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म
तथा SS प्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय!
निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥

पाकर सिद्धि ब्रह्म को कैसे
जानहु मुझसे पावहि जैसे
सार हि महँ कहुँ अर्जन! सोई
निष्ठा परम् ज्ञान की जोई ॥

५१

बुद्धया विशुद्धया युक्तो
धृत्या ऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दाऽऽदीन् विषयांस् त्यक्त्वा
राग द्वेषौ व्युदस्य च ॥

जो अति शुद्ध बुद्धि युत होई,
धृतिसे निज संयम करि जोई, ।
शब्द आदि सब विषय तजाना,
प्रीति द्वेष अरु दूर कराना, ॥

५२

विविक्त सेवी लघ्वाशी
यत – वाक् – काय – मानसः ।
ध्यान–योग–परो नित्यम्
वैराग्यं समुपाश्रितः ॥

निर्जन वासहि, अल्पाहारी,
तनु मन बानी निज वश कारी, ।
ध्यान योग महँ मग्न सदा ही,
अरु निज महँ वैराग्य जुड़ा ही, ॥

५३

अहंकारं बलं दर्पम्
कामं क्रोधं च परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो
ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥

तजे घमंड तथा अभिमाना
काम क्रोध हठ संग्रह नाना, ।
ममता रहित, शान्त मन जोई
ब्रह्म रूप लगि पात्र हि होई ॥

५४

ब्रह्म भूतः प्रसन्ना ऽऽत्मा
न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु
मद् भक्तिं लभते पराम् ॥

ब्रह्म रूप प्रसन्न मन जोई
नहिं शोचत नहिं इच्छत सोई ।
सकल चराचर मांहि समाना
परा भक्ति मम सोइ लहाना ॥

५५

भक्त्या मां अभिजानाति
यावान् यश्चा ऽस्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा
विशते तदनंतरम् ॥

जानहि मुझे भक्तिसे सोई
तत्त्व तया मैं जितना जोई ।
मुझे जानकर तत्त्व तथा ही
तुरत मिलहि तब वह मुझ मांही ॥

५६

सर्व – कर्माण्यपि सदा
कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादाद् अवाप्नोति
शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

यद्यपि वह सब कर्म करेही
पर मम आश्रय नित्य लहेही ।
तो मम कृपया तुरतहि पावे
शाश्वत पद जो कबि न नशावे ॥

५७

चेतसा सर्व कर्माणि
मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगं उपाश्रित्य
मच्चित्तः सततं भव ॥

शुद्ध हृदय से सब कर्मों ही
अर्पिय मुझको, रत मुझ मांही ।
बुद्धि योग = समता शरणावो
संतत मुझ महँ चित्त लगावो ॥

५८

मच्चित्तः सर्व दुर्गाणि
मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत् त्वं अहंकारात्
न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥

चित्त लगावहु यदि मुझ मांही
तरहु कष्ट सब मम कृपया ही ।
पर यदि अहंकार के पाहीं
सुनहु न मम तो अवशि नशाही ॥

५९

यद् अहंकारमाश्रित्य
'न योत्स्य' इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते
प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

अरु यदि अहंकार वश जाई
मानहु अस कि न करहुँ लड़ाई ,
यह तव निश्चय व्यर्थ हि होई
प्रकृति करावहि तुम पहिं सोई ॥

६०

स्वभावजेन कौन्तेय!
निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन् मोहात्
करिष्यस्यवशो ऽपि तत् ॥

प्रकृति जनित निज कर्मन् पाहीं
पार्थ! बँधे हो पूर्ण तयाही ।
चाहु न करन् मोह वश जोई
होकर विवश करहु अपि सोई ॥

६१

ईश्वरः सर्व – भूतानाम्
हृद्देशे ऽर्जुन! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्व – भूतानि
यंत्रा ऽऽरूढानि मायया ।

यत, ईश्वर सब प्राणिन् के ही
पार्थ! हृदय महँ बास करेहीं ।
सब प्राणिन् को तथा घुमाई
माया पहिं जनु चक्र चढ़ाई ॥

६२

तं एव शरणं गच्छ
सर्व – भावेन भारत! ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिम्
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

अस उसि ईश्वर को शरणाहू
पूर्ण भक्तिसे हे बड़ बाहू! ।
उसिके लहहु प्रसाद हि पाहीं
परम शान्ति पद शाश्वत का ही ॥

६३

इति ते ज्ञानमाख्यातम्
गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतद् अशेषेण
यथेच्छसि तथा कुरु ॥

अस मैं तुमको ज्ञान बखाना
गुह्यन् मांहिं गुह्य अधिकाना ।
इसका पूरा करहु बिचारा
अरु कुरु तव इच्छा अनुसारा ॥

६४

सर्व गुह्यतमं भूयः
शृणु मे परमं वचः ।
इष्टो ऽसि मे दृढं इति
ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

सब महँ अतिशय गुह्य हि जोई
परम वचन मम सुनु पुनि सोई ।
कारण, तुम मम अति प्रिय होऊ
तासु कहहुँ तव हितकर जोऊ ॥

६५

मन्मना भव मद्भक्तो
मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मां एवैष्यसि सत्यं ते
प्रतिजाने प्रियो ऽसि मे ॥

रखु मन मुझमें, भजहु मुझेही,
यजहु मुझे, करु नमन मुझेही, ।
प्रिय तुम मुझे, मिलहु मुझ मांही
अरु यह वचन सत्य मम आही ॥

६६

सर्व – धर्मान् परित्यज्य
मां एकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो
मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

सकल धर्म साधन तजि आवो
धर्म मूल इक मुझ शरणावो ।
मै तुमको सब पापन् पाहीं
करहुँ मुक्त तुम शोचहु नाहीं ॥

६७

इदं ते ना S तपस्काय
ना S भक्ताय कदाचन ।
न चा S शुश्रूषवे वाच्यम्
न च मा यो S भ्यसूयति ॥

यह न कहो तुम तप हीनों को
अरु ना कबहुँ भक्ति रहितों को ।
उसे न जो सुनना नहिं चाही
करे द्वेष मम उसको नाहीं ॥

६८

य इमं परमं गुह्यम्
मद् भक्तेष्व भि-धा स्य ति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा
मां ए वै ष्य त्य सं श यः ॥

जो यह परम गुह्य मम ज्ञाना
मम भक्तन् को करइ बखाना ।
करि मम परा भक्ति तिसपाहीं
मिलहि मुझे ही संशय नाहीं ॥

६९

न च तस्मान् मनुष्येषु
कश्चिन् मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्माद्
अन्यः प्रियतरो भुवि ॥

नहिं मनुजो महँ उससे कोई
अति प्रिय कर्ता मम इह होई ।
अरु ना उससे अन्यहि कोई
बढ़कर प्रिय मम जगमहँ होई ॥

७०

अ ध्ये ष्य ते च य इमम्
धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञान यज्ञेन तेना S हम्
इष्टः स्यां इति मे मतिः ॥

यह संवाद पढ़े जो कोई
धर्मयुक्त अपना अस जोई ।
ज्ञान यज्ञ से सो तप लीनो
पूजहि मुझको मैं अस मानो ॥

७१

श्रद्धावान् अनसूयश्च
शृणुयाद् अपि यो नरः ।
सो ऽपि मुक्तः शुभांल् लोकान्
प्रप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥

दोष दृष्टि बिनु श्रद्धावान्
मनुज सुनहि अपि जो यह ज्ञाना ।
वह अपि मुक्त होइ शुभ लोका
पावहि पावन कर्म करोंका ॥

७२

कच्चिद् एतच् छ्रुतं पार्थ!
त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिद् अज्ञान – संमोहः
प्रणष्टस् ते धनंजय! ॥

पार्थ! सुना किम तुम यह ज्ञाना
करि एकाग्र चित्त अरु ध्याना? ।
अरु अज्ञान जनित तव मोहा
पार्थ! नसा किम जो तव छोहा? ॥

७३ अर्जुन उवाच ७३

नष्टो मोहः स्मृतिर् लब्धा
त्वत्प्रसादान् मया ऽच्युत! ।
स्थितो ऽस्मि गत संदेहः
करिष्ये वचनं तव ॥

कह अर्जुन, मम मोह मिटा ही
हरि! मैं स्मृति लहि तव कृपया ही ।
गत संशय अब सिद्ध खडा हूँ
वचन तुम्हारे अनुसरता हूँ ॥

७४ संजय उवाच ७४

इत्यहं वा सु दे व स्य
पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादं इ म म श्रौ ष म्
अद्भुतं रोम हर्षणम् ॥

कह संजय अस कृष्ण तथाही
पार्थ महात्मा इन दुइका ही ।
यह संवाद सुना मैं जोई
अद्भुत, तनु पुलकावत सोई ॥

७५

व्यास–प्रसादाच् छ्रुतवान्
एतद् गुह्यं अहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात्
साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥

व्यास देव के अनुग्रह द्वारा
सुना योग यह गूढ़ अपारा ।
कृष्ण स्वयं योगेश्वर जे ही
मै प्रत्यक्ष सुना कहते ही ॥

७६

राजन्! संस्मृत्य संस्मृत्य
संवादं इममद्भुतम् ।
केशवा ऽर्जुनयोः पुण्यम्
हृष्यामि च मुहुर् मुहुः ॥

सुमिरि सुमिरि संभाषण राजन्!
जो अति अद्भुत अरु करि पावन ।
केशव अर्जुन दुइका सारा
हर्ष होइ मुझ बारम्बारा ॥

७७

तच् च संस्मृत्य संस्मृत्य
रूपं अत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्!
हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

सुमिरि सुमिरि अति अद्भुत सोई
विश्वरूप श्री हरि का जोई ।
राजन्! मम अति अचरज कारा
हर्षावत अरु बारंबारा ॥

७८

यत्र योगेश्वरः कृष्णो
यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर् विजयो भूतिर्
ध्रुवा नीतिर् मतिर् मम ॥

दोहा-योगेश्वर श्रीकृष्ण जहँ,
जहँ अर्जुन धनुधारि ।
लक्ष्मी वैभव विजय तहँ,
अचल नीति मैं धारि ॥

ॐ तत् सत् इति

श्रीमद्-भगवद्-गीतासु
उ प नि ष त्सु
ब्रह्म-विद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृ ष्णा र्जु न - सं वा दे
मोक्ष-संन्यास-योगो नाम
अ ष्टा द शो ऽ ध्या यः
श्री कृ ष्णा र्प ण
म स्तु ॥१८॥

श्री भगवान कृष्ण की गाई
उपनिषदों का सार समाई ।
योगशास्त्र अरु ब्रह्मक ज्ञाना
अर्जुन को श्रीकृष्ण बखाना ॥
योग मोक्ष संन्यास कहाया
होइ अठारहवाँ अध्याया
करि हिन्दी गीता चौपाई
कृष्णार्पण सो धन्य गाई ॥१८॥

ॐ तत् सत्

आरती श्री गीताजीकी

ॐ भगवति जग पावनि जय गीता माई ।
अर्जुन मिष जगको निज कर्तव्य सिखाई ॥ ध्रु० ॥

२ देही नित, अविनाशी, अस तत्व बताई ।
फल महँ नहिं, कर्मन् महँ अधिकार बुझाई ॥१॥ ओ ३ म्०

३ जन संग्रह हित ज्ञानी सन कर्म जनाई ।

४ साधु अवन, दुष्ट दलन, अवतार धराई ॥२॥ ओ ३ म्०

५ दोष रहित समता को सद् ब्रह्म बताई ।

६ जीतिय मन, निजसे निज उद्धार सिखाई ॥३॥ ओ ३ म्०

७ प्रकृति परा अपरा से जग भावन गाई ।

८ शुक्ल कृष्ण योगिन् की दो गति बतलाई ॥४॥ ओ ३म्०

९ उँच नीच सबहिं भक्ति सन मुक्ति दिखाई ।

१० योग विभूति सकल महँ श्री हरि की गाई ॥५॥ ओ ३ म्०

११ विश्वरूप नरहरिका दर्शन करवाई ।

१२ सगुण भक्ति निर्गुण से अति सुलभ बताई॥६॥ओ ३म्०

१३ प्रकृति पुरुष योग क्षेत्र क्षेत्रज्ञ बुझाई ।

१४ सत रज तम ज्ञान कर्म अज्ञान गुणाई ॥७॥ ओ ३ म्०

१५ पुरुषोत्तम क्षर - अक्षर - पर-पुरुष बताई ।

१६ दैव असुर प्रकृतिन् के लक्षण समझाई ॥८॥ ओ ३ म्०

१७ कर्मन् महँ ॐ तत् सत् उच्चारण गाई ।

१८ निज कर्तव्य करन पहिं प्रभु अर्चन गाई ॥९॥ ओ ३ म्०
सकल धर्म तजि प्रभु की इक शरण लिवाई ।
गावत आरति धन्ना जय गीता माई ॥१०॥ओ ३ म्०